विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक १० अक्तूबर २००४ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
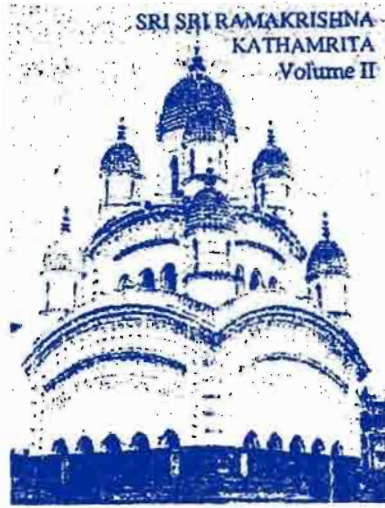
JUST RELEASED

VOLUME II
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the second volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** — Vol. I to V — Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** — Vol. I to XVI — Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. **This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.**

ENGLISH SECTION

- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita — Vol. I & II — Rs. 300.00 for both (postage Rs. 50)
- M., the Apostle & the Evangelist — Vol. I to X — Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial — Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita — Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
- A Short Life of M. — Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- **Sri Ma Darshan** — Vol. I to XVI — **Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)**

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक १०

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरं... रायपुर (फोन २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, सस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-सवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अक ५/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं विशीर्णं शतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ।।१५।।

अर्थ – भिक्षा में प्राप्त होनेवाला स्वादहीन भोजन और वह भी दिन में एक बार मिलता है, भूमि ही बिस्तर और अपना शरीर मात्र ही परिवार है, जीर्ण-शीर्ण सैकड़ों टुकड़ों से बनी हुई गुदड़ी ही एकमात्र वस्त्र है; इसके बावजूद, अहो ! कितने शोक की बात है कि विषय-वासनाएँ मेरा त्याग नहीं करतीं !

स्तनौ मांसग्रन्थी कनक-कलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन् मूत्रक्लिन्नं करिवर-कर-स्पर्धि जघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजन-विशेषैर्गुरु कृतम् ।।१६।।

अर्थ – स्तन मांस की ग्रन्थियाँ हैं, तथापि उनकी उपमा स्वर्ण के कलशों से दी गयी है; मुख कफ का आगार है, तथापि उसकी तुलना चन्द्रमा से की गयी है; जंघों से मूत्र आदि बहता रहता है, तथापि उन्हे उत्तम हाथी के सूड़ से स्पर्धा करनेवाला बताया गया है; प्रतिक्षण दोषपूर्ण निन्दनीय रूप को कुछ विशिष्ट कवियों द्वारा बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है ।

– भर्तृहरि

भजन-गीति

– १ –

(मारू-बिहाग–रूपक)

प्रभु चरण में डूब रे मन ।
छोड़ सब निस्सार चर्चा, कर उन्हीं का ध्यान-चिन्तन ।।

है नहीं सुख-शान्ति जग में, खूब भटके किन्तु इसमें,
अब सँभल उपयोग कर ले, व्यर्थ ही ना जाय जीवन ।।

मृत्यु जब आकर धरेगी, बुद्धि तेरी क्या करेगी,
पुण्य-पाप ही सँग चलेंगे, काम आएँगे न धन-जन ।।

रह न गफलत में पड़ा यूँ, बदल ले निज दृष्टि अब तू,
प्रीति-सेवा कर सभी की, है उन्हीं से व्याप्त कन-कन ।।

खुल रहे हैं भाग अपने, हो रहे साकार सपने,
पा 'विदेह' शरण उन्हीं की, हो गया कृतकृत्य क्षन-क्षन ।।

– २ –

सभी काम रखकर सुबह और शाम ।
बजा तालियाँ गाओ ठाकुर का नाम ।।

सुदृढ़ है बहुत ही ये तन-वृक्ष तेरा,
इसी पर करें पाप-पंछी बसेरा,
सदा कर रहे वे गमन-आगमन हैं,
इसे छोड़ जाएँगे उड़कर स्वधाम ।। बजा ..

जगत् का सफर है कठिन औ अजाना,
अकेले ही आए अकेले ही जाना,
इकट्ठा यहाँ पर करो चाहे जितना,
नहीं जाएगा संग में कौड़ी-छदाम ।। बजा ..

जो कर्तव्य अपने, उन्हें पूर्ण करना,
अहंभाव मन का सतत चूर्ण करना,
न दुर्भाव रखना किसी से न डरना,
सभी में करो नित्य उनको प्रणाम ।। बजा ...

हृदय शुद्ध होगा सुनिर्मल तुम्हारा,
कमल खिल उठेगा विमल-चारु-न्यारा,
प्रगट नाथ होंगे मिटा शोक सारा,
सुलावण्यमय रूप अनुपम ललाम ।। बजा ..

– विदेह

सेवा का धर्म

स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्म और परमाणु-कीट तक,
सब भूतों का है आधार,
एक प्रेममय प्रभु,
इन सबके चरणों में दो तन-मन वार।
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे,
और कहाँ है ईश?
व्यर्थ खोज यह,
जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।

समस्त उपासनाओं का सार यह है कि व्यक्ति शुद्ध रहे और सदैव दूसरों का भला करे। वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है, तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक है। यदि किसी मनुष्य ने बिना जाति-पाँति या ऊँच-नीच के भेद-भाव के किसी निर्धन मनुष्य की सेवा-सुश्रूषा यह विचार कर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उस मनुष्य से उस दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रसन्न होंगे, जो उन्हें केवल मन्दिर में देखता है।

जो व्यक्ति अपने पिता की सेवा करना चाहता है, उसे सबसे पहले अपने भाइयों की सेवा करनी चाहिए, इसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे पहले उनकी सन्तानों की – विश्व के प्राणिमात्र की सेवा करनी चाहिए।

शास्त्रों में कहा भी गया है कि जो भगवान के दासो की सेवा करता है, वही भगवान का सर्वश्रेष्ठ दास है। यह बात सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिए।

मैं पुन: कहता हूँ कि तुम्हें स्वयं शुद्ध रहना चाहिए तथा यदि कोई तुम्हारे पास सहायतार्थ आए, तो जितना तुमसे बन सके, उतनी उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिए। यही श्रेष्ठ कर्म कहलाता है। इसी श्रेष्ठ कर्म की शक्ति से तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जायगा और फिर प्रत्येक हृदय में निवास करनेवाले शिव प्रकट हो जायेंगे।

स्वार्थपरता अर्थात् स्वयं के बारे में पहले सोचना ही सबसे बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं ही पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो जाय और मैं ही दूसरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वही व्यक्ति स्वार्थी है। नि:स्वार्थ व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है, तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ।' यह **नि:स्वार्थपरता ही धर्म की कसौटी है।**

जीवन क्षणिक है, संसार के भोग-विलास की सामग्रियाँ भी क्षणभंगुर हैं। वे ही सचमुच जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीवन धारण करते हैं। बाकी लोगों का जीना तो मृत्यु के ही समान है।

क्या तुम अपने भाई – मनुष्य जाति – को प्यार करते हो? **ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने चले हो – क्या ये सब गरीब, दुखी, दुर्बल मनुष्य ईश्वर नहीं हैं?** पहले इन्हीं की पूजा क्यों नहीं करते? गंगा-तट पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो?

जगत् को प्रकाश कौन देगा? बलिदान भूतकाल से नियम रहा है और हाय! युगों तक इसे रहना है। संसार के वीरों को और सर्वश्रेष्ठों को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' अपना बलिदान करना होगा। असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है।

संसार के धर्म प्राणहीन परिहास की वस्तु हो गये हैं। जगत् को जिस वस्तु की जरूरत है, वह है चरित्र। संसार को ऐसे लोग चाहिए, जिनका जीवन स्वार्थहीन ज्वलन्त प्रेम का उदाहरण है। वह प्रेम एक एक शब्द को वज्र के समान प्रभावशाली बना देगा।

उठो! उठो! संसार दु:ख से जल रहा है। क्या तुम सो सकते हो? हम बार बार पुकारें, जब तक सोते हुए देवता न जाग उठें, जब तक अन्तर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें। जीवन में और क्या है? इससे महान् कर्म क्या है?

मेरी अभिलाषा है कि मैं बारम्बार जन्म लेता रहूँ और हजारों दु:ख भोगता रहूँ, ताकि मै उस सम्पूर्ण आत्माओं के समष्टिरूप एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है। सबसे बढ़कर, सभी जातियों और वर्णों के पापी, तापी और दरिद्र रूपी ईश्वर ही मेरा विशेष उपास्य है।

करुणाजन्य परोपकार उत्तम है, परन्तु शिव ज्ञान से सर्व जीव की सेवा उससे श्रेष्ठ है।

हम दूसरों के प्रति दया प्रकाशित कर पाते हैं, यह हमारा एक विशेष सौभाग्य है – क्योंकि इस प्रकार के कार्य के द्वारा ही हमारी आत्मोन्नति होती है। दीन-जन मानो इसलिए कष्ट पाते हैं कि हमारा कल्याण हो। अत: दान करते समय दाता ग्रहीता के सामने घुटने टेके और धन्यवाद दे; ग्रहीता दाता के सम्मुख खड़ा हो जाय और अनुमति दे। सभी प्राणियों में विद्यमान प्रभु का दर्शन करते हुए उन्हीं को दान दो।

कर्म करना धर्म नहीं है, फिर भी यथोचित रूप से कर्म करना मुक्ति की ओर ले जाता है। वास्तव में समग्र दया अज्ञान है, क्योंकि हम दया किस पर करेंगे? क्या तुम ईश्वर को दया की दृष्टि से देख सकते हो? फिर ईश्वर छोड़कर और है ही क्या? ईश्वर को धन्यवाद दो कि उसने तुम्हारी आत्मोन्नति के लिए यह जगत् रूपी नैतिक व्यायामशाला तुम्हें प्रदान की है। यह कभी मत सोचना कि तुम इस जगत् की सहायता कर सकते हो। तुम्हें यदि कोई गाली दे, तो उसके प्रति कृतज्ञ होओ।

आत्मप्रतिष्ठा नहीं, आत्म-त्याग ही सर्वोच्च लोक का धर्म है। धर्म की उत्पत्ति प्रखर आत्म-त्याग से ही होती है। अपने लिए कुछ भी मत चाहो। सब दूसरों के लिए करो। यही ईश्वर में निवास करना, उन्हीं में विचरण करना और अपने अपनेपन को उन्हीं में प्रतिष्ठित पाना है।

स्वार्थशून्यता ही ईश्वर है।

हर मनुष्य में स्वार्थ शैतान का अवतार है। स्वार्थ का एक एक अंश, अंशत: शैतान है। एक ओर से तुम स्वार्थ को हटा लो और दूसरी ओर से ईश्वर प्रविष्ट हो जायेगा।

प्रश्न तो यह है कि क्या तुम नि:स्वार्थ हो? यदि हो, तो चाहे तुमने एक भी धार्मिक ग्रन्थ का अध्ययन न किया हो, चाहे तुम किसी भी गिरजा या मन्दिर में न गये हो, फिर भी तुम पूर्णता को प्राप्त कर लोगे।

सर्वोच्च आदर्श है – चिरन्तन और सम्पूर्ण आत्मत्याग, जिसमें किसी प्रकार का 'मैं' नहीं, केवल 'तू' ही 'तू' है। हमारे जाने या बिना जाने, कर्मयोग हमें इसी लक्ष्य की ओर ले जाता है।

देवता और असुर में कुछ विशेष भेद नहीं है, भेद केवल नि:स्वार्थता तथा स्वार्थ में है।

मानव-जाति की सेवा करना विशेषाधिकार है, क्योंकि यह ईश्वर की उपासना है। ईश्वर यहीं है, इन सब मानव-आत्माओं में है। वह मनुष्य की आत्मा है।

जिसकी हम सहायता करते हैं – उसे साक्षात् नारायण मानना चाहिए। मनुष्य की सहायता द्वारा ईश्वर की उपासना करना हमारा परम सौभाग्य है।

यह संसार तो चरित्र-गठन के लिए एक विशाल नैतिक व्यायाम-शाला है। इसमें हम सभी को अभ्यास-रूप कसरत करनी पड़ती है, जिससे हम आध्यात्मिक बल से अधिकाधिक बलवान बनते रहें।

प्रत्येक वस्तु का अग्रांश दीनों को देना चाहिए, अवशिष्ट भाग पर ही हमारा अधिकार है। दीन ही परमात्मा के रूप (प्रतिनिधि) हैं। दु:खी ही ईश्वर का रूप है।

❑❑❑

मन को कर बलवान

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

चिन्ता कभी न कीजिये, चिन्ता विकट बलाय।
चिन्ता ऐसी कीजिये, चिन्तामणि हो जाय।।

मृत्यु नहीं मरती कभी, मरता है संसार।
दस दिन के व्यवहार में, मत कर मिथ्याचार।।

अपना मन मत मार रे! मन को कर बलवान।
मन से ही संसार है, मन से ही भगवान।।

मैं मेरा में मर रहा, यह सारा संसार।
अमर वही, निर्भय वही - जो मैं को दे मार।।

गाते हो गाओ भले, तुम असत्य के गीत।
किन्तु सदा ही अन्त में, हुई सत्य की जीत।।

कहा फूल ने शूल से - परम सत्य मत भूल।
जीवन दिन दो-चार का, अन्त धूल की धूल।।

विज्ञ बड़े, वक्ता बड़े, किन्तु काम के दास।
ज्यो नभ से भी गीध खग, भू पर देखे मांस।।

बिना विवेक-विचार के, नहीं सुखद है कर्म।
गये स्वर्णमृग मारने, राम न समझे मर्म।।

माली की संगति किये, बाँस बन गया मौर।
पड़ मेहतर के हाथ तो, बस नाली में ठौर।।

ऊँच हुआ तो क्या हुआ, यदि करनी हो नीच।
नीच हुआ तो क्या हुआ, कमल उगाता कीच।।

कभी न ऐसा संग कर, जिससे बने अनाथ।
पिस जाते है घुन कभी, पा गेहूँ का साथ।।

मन मारे मत बैठ तू, मन को कर बलवान।
मानव, मन को तू उठा, जल में कमल-समान।।

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. मे आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके ६वे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

भक्त भगवान को अपनी रुचि – अपनी आवश्यकता के अनुकूल पाना चाहता है। मनु-सतरूपा-प्रसंग में यही संकेत मिलता है। वे भगवान को पुत्र के रूप में पाना चाहते है और जब सतरूपा जी कौशल्या के रूप में जन्म लेती हैं और भगवान उनके सामने आते हैं तो वहाँ पर दो शब्द हैं –

भए प्रगट कृपाला ।। १/१९२/१ छं.

राम जनम सुखमूल ।। १/१९०

भगवान का जन्म हुआ और भगवान प्रगट हुए – ये दो शब्द क्यों हैं? इसका अभिप्राय है कि वस्तुत: ब्रह्म का जन्म क्या होगा? जन्म-मरण तो व्यक्ति का होता है। पर इतना होते हुए भी वे ऐसी लीला करते हैं कि उनका जन्म हुआ-सा प्रतीत होता है। वस्तुत: वे प्रगट तो हैं ही, परन्तु भक्त को आनन्द तब आता है, कौशल्या को आनन्द तब आता है, जब उन्हें लगता है कि भगवान उसके गर्भ में आ गये हैं। यह भक्ति-साधना है। **भक्ति-साधना में असीम को समीम बनाकर ही रस और तृप्ति का अनुभव हो सकता है।** असीम का ज्ञान अपने आप में परम उत्कृष्ट है, पर हमारी समस्या का समाधान तो तब होगा, जब हम उस असीम को ससीम – छोटा बना लें। श्रीराम बालक बन गए, श्रीकृष्ण बालक बन गए। ब्रह्म असीम है, सब कुछ ब्रह्म में है, पर वे ब्रह्म बालक बनकर कौशल्या के समक्ष प्रगट हुए तब –

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला ...

और उसके बाद है – कौशल्या के हित करने के लिए –

कौसल्या हितकारी ।।

और आगे चलकर इस छंद की अन्तिम पंक्ति में है –

बिप्र धेनु सुर संत हित

लीन्ह मनुज अवतार ।। १/१९२

पहला वाक्य है कि उन्होंने कौशल्या के हित के लिए जन्म लिया और अन्त में कहा गया कि ब्राह्मण, गाय, देवता तथा सन्तों के हित के लिए जन्म लिया। और आगे चलकर तो यहाँ तक कि रावण के हित के लिए भी कह दिया गया – जब अंगद राजदूत के रूप में लंका जाने लगे, तो उन्होंने भगवान से पूछा – महाराज, मुझे आज्ञा दीजिए कि मुझे रावण से कैसे बात करना है। प्रभु ने कहा – ऐसा करना जिससे हमारा कार्य हो जाय और उसका हित भी हो –

काजु हमार तासु हित होई ।। ६/१७/८

अब किसके हितैषी हैं – रावण के, कौशल्या के या विप्र, धेनु, सुर सन्त के? तात्पर्य यह कि वे तो सर्वभूतों में है, सबके हितैषी हैं, पर उन्हें हम अपनत्व की सीमा में लाकर एक आनन्द का, एक तृप्ति का अनुभव करते हैं।

भगवान की लीला का अर्थ? – भक्त की आकांक्षा की पूर्ति। और भगवान के विवाह का क्या अर्थ है? ब्रह्मा ने शंकर जी से कहा – महाराज, आप विवाह स्वीकार कर लीजिए। शंकर जी बोले – "मेरा विवाह होना क्या अभी बाकी है? मेरी वह शक्ति तो सदा से मुझसे अभिन्न है।" ब्रह्माजी बोले, "महाराज, हम जानते हैं कि आप और पार्वती जी तो अनादि काल से एक ही हैं, परन्तु हमारे पास आँखे हैं और हमारी इन आँखों की सार्थकता तो तब होगी, जब हम अपनी आँखों से आपका विवाहं देखें। हम अपनी आँखों को धन्य करने के लिए आपका विवाह देखना चाहते हैं –

निज नयनन्हि देखा चहहिं

नाथ तुम्हार बिबाहु ।। १/८८

कौशल्या जी के सामने प्रगट हुए और उन्हें ज्ञान भी दे दिया। अब तक तो वे प्रसन्न थीं कि मेरी गोद में राम आएँगे, पर जब राम आए तो कौशल्या के मन में जिज्ञासा हुई कि क्या वे वही हैं जिनके रोम-रोम में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं –

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया

रोम रोम प्रति बेद कहै ।

मम उर सो बासी यह उपहासी

सुनत धीर मति थिर न रहै ।। १/१९२/३

वह असीम हमारे इस नन्हें से गर्भ में कैसे आ जायेगा? और तब प्रभु मुस्कुराए, बोले – "तुम्हीं ने तो चाहा था, सतरूपा के रूप मे तुम्ही ने तो कहा था कि मैं भक्ति के साथ साथ विवेक भी चाहती हूँ।" इसलिए कौशल्या को जब ज्ञात हो गया कि यह तो साक्षात ब्रह्म है, तब – प्रभु मुस्कराए –

उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना ... । १/१९२/३

अब रुचि सामने आई, लोग कई तरह के व्यंजन चाहते हैं। कौशल्या की भी कई तरह की रुचि है –

जे निज भगत नाथ तव अहहीं ।
जो सुख पावहिं जो गति लहहिं ।
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति
सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु
हमहि कृपा करि देहु ।। १/१५०

भगवान बोले – "तुम्हारी माँग की सूची तो बड़ी लम्बी है। तो लो, आरम्भ यहीं से कर देते हैं। तुमने ज्ञान माँगा था, इसलिए मुझे ज्ञान की दृष्टि से देख लो। अब भक्ति का सुख चाह रही हो, तो तुम्हीं कहो कि कहाँ से शुरू करें?" तब माँ ने कहा – अब आप बालक बन जाइए, बाल-लीला कीजिए, यही मेरी इच्छा है, इसी में मुझे सुख मिलेगा –

कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला
यह सुख परम अनूपा ।। १/१९२/४

कैसी विचित्र बात है ! शिशु तो रोयेगा। अब यदि किसी से कहें कि आप रोवें तो हमें बड़ा सुख मिलेगा, तो वह तो यही कहेगा कि बड़े दुष्ट हो। पर माँ ने कहा – वैसे तो रोना अच्छा नहीं लगता, पर नाटक में अगर कोई रोए तो वह कोई सच का रोना थोड़े ही होता है। वह ऊपर से आँसू तो बहा कर रो रहा है, पर अपने अभिनय की सफलता पर भीतर ही भीतर प्रसन्न भी हो रहा है।

वस्तुत: यह जो कथा है, लीला है, भगवान का जो चरित्र है, रूप है, गुण है, वह तो भक्तों की रुचि या आकांक्षा की पूर्ति करने के लिए है। वस्तुत: ज्ञान के अधिकारी तो बिरले ही व्यक्ति होते हैं और भक्ति सबके लिए सुलभ तथा सुखदाई है। **भक्ति सरल-से-सरल है, पर कठिन-से-कठिन भी है**। इसका बड़ा विलक्षण वर्णन किया गया है।

यह जो जनकपुर का प्रसंग है – श्रीराम विश्वामित्र के साथ कैसे जनकपुर गए, कैसे नगर देखा, कैसे वाटिका में गये, कैसे श्री सीताजी की सुन्दरता को देखा, आप इसका भी आनन्द लें। महाराज जनक तो विदेह हैं, पर उनकी पत्नी विदेह नहीं है। उनकी पत्नी तो सुनैना है। सुनैना का अर्थ है – जिनकी आँखें सुन्दर हों। अब यदि देह मिथ्या है, तो आँखें सुन्दर हैं या नहीं, इससे क्या? प्रभु ने कहा – यदि मैं निर्गुण-निराकार रहूँगा, तो विदेह तो विदेहत्व का आनन्द लेंगे, पर सुनैना जी क्या करेंगी? नेत्र क्या करेंगे? हम लोगों को जो नेत्र मिले हुए हैं, जो इन्द्रियाँ मिली हुई हैं, उनका भी माध्यम तो हमें मिले ! जैसे ज्ञान में जहाँ व्यक्ति के विवेक को महत्त्व दिया जाता है, वहीं भक्ति में मानो प्रत्येक अंग-प्रत्यंग, प्रत्येक वस्तु को महत्त्व दिया जाता है। गोस्वामी जी से पूछा गया – आप क्या चाहते हैं? बोले –

सियराम सरूपु अगाध अनूप
बिलोचन मीनन को जलु है ।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नामु
हिएँ पुनि रामहि को थलु है ।।
मति रामहि सों, गति रामहि सों
रति राम सों रामहि को बलु है ।
सबकी न कहै तुलसी के मतें
इतनो जगजीवन को फलु है ।। कविता. ७/३७

भगवान को जब हम सगुण साकार रूप में पाते हैं, तो हमारी प्रत्येक इन्द्रिय धन्य हो जाती है। गोपियाँ जब कहती हैं कि गाय कौन दूहेगा, तो यह गाय क्या वही गाय है जो दूध देती है? देह तथा इन्द्रियों को भी गाय कहा गया है। इसीलिए सूरदास जी ने भगवान से कहा – जब इतनी गाय चराते हो, तो थोड़ा-सा काम मेरा भी कर दो। – क्या? बोले – पाँच-दस गायें मेरी भी ले जाओ। यह भक्त की बड़ी मधुर बात है।

इसीलिए यहाँ जनक को बता दिया गया कि यदि मैं निर्गुण-निराकार रूप में रहूँगा तो तुम रोए बिना नहीं रहोगे, क्योंकि मैं द्रष्टा हूँ, मुझमें कोई आकांक्षा नहीं है, ऐसी स्थिति में मैं धनुष क्यों तोड़ूँगा? जब सीताजी और मैं अभिन्न हैं तो विवाह का प्रश्न ही कहाँ? और उसके लिए धनुष तोड़ने की आवश्यकता ही क्या है? पर सीताजी के विवाह का प्रश्न और धनुष टूटने की आवश्यकता भी आपके सामने है। ज्ञान से विदेह होते हुए भी व्यवहार में जब आपने पिता का नाता मान लिया है, यह स्वीकार किया है कि सीता मेरी पुत्री है, तब तो फिर व्यवहार में वह सारा दृश्य आयेगा ही।"

गोस्वामी जी ने कई सूत्रों द्वारा संकेत दिया। पुष्पवाटिका में जब श्रीराम का आगमन हुआ और जनक-नन्दिनी सीताजी से दिव्य साक्षात्कार हुआ, तो ज्ञान और भक्ति का एक सुन्दर सामंजस्य हुआ। यह पुष्पवाटिका ज्ञान और भक्ति के सुन्दर सामंजस्य की वाटिका है। उसमें भगवान श्रीराम कहाँ हैं? श्रीराम यदि ब्रह्म हैं, तो ब्रह्म कहाँ हैं? कहाँ रहते हैं? –

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता । १/२३२/१

जनक-नन्दिनी सीता मानो अपनी लीला के द्वारा ज्ञान और भक्ति का रहस्य बता रही हैं। सखी ने जहाँ देखा था, वहाँ नहीं दिखाई दे रहे हैं। सीताजी चकित होकर चारों ओर देखने लगीं। वस्तुत: ब्रह्म का तो कोई रूप है ही नहीं, रूप हो तो दिखाई दे, जब रूप ही नहीं है, तो दिखाई क्या देगा? लेकिन भक्ति-रस की महिमा क्या है? हम उसे देखना चाहते हैं। इसलिए चाहते हैं कि आँखें धन्य हो जायँ। आँखों की धन्यता के लिये भगवान की यह जो लीला है, उसमें हम उस अरूप का रूप देखते हैं।

अरूप का रूप देखने का अर्थ क्या है? हम लोगों की ये जो आँखें बनी हैं, उनकी सार्थकता क्या है? गोस्वामी जी से पूछा गया – जनकपुर-वासिनी दो-चार स्त्रियों के नाम तो

बताइये। वे बोले – सारे जनकपुर की स्त्रियों को मैं तो दो ही नाम दूँगा। – कौन-से? – ये कोकिलबैनी तथा सुनैनी हैं –

कहहिं परस्पर कोकिल बयनीं।
एहि बिआहँ बड़ लाभु सुनयनीं।। १/३१०/७

कोकिलबैनी माने वाणी की सार्थकता और श्रुति की भी धन्यता। सुनैना-वृत्ति – अर्थात् हमारी इन्द्रियों की रुचि की भावना की तृप्ति। मानो अध्यात्म में रस भी है। जो ब्रह्म अरूप है, दिखाई नहीं दे रहा है, उसे हम देखना चाहते हैं। उसमें एक क्रम है। **पहले श्रुति** – जनक-नन्दिनी जब भगवान की सुन्दरता का वर्णन सुनकर दर्शन की उत्कण्ठा लेकर चलीं, तो उनके आभूषणों से ध्वनि हो रही है। हाथ में कंगन, कमर में किंकणी, चरणों में नूपुर – इन आभूषणों में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग की ओर संकेत है –

कंकन किंकनि नूपुर धुनि सुनि। १/२३०/१

कंगन मानो कर्मयोग है और कटि की कंकणी भक्तियोग है। इसी प्रकार नूपुर वह ज्ञानयोग है, जहाँ पर ब्रह्मपद की उपलब्धि है। यह एक बड़ा विस्तृत प्रसंग है।

श्रीराम के कानों में इन आभूषणों की ध्वनि जाती है। भगवान से प्रार्थना करें और भगवान सुन लें। किस भाषा में? भाषा को लेकर बड़े विवाद होते हैं। कई लोगों का आग्रह होता है कि प्रार्थना तो देवभाषा – संस्कृत में ही हो, सम्भव न हो तो हिन्दी में भी ठीक है, पर कोई अँग्रेजी में करे तो? कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा नहीं होना चाहिये, वह विदेशी भाषा है। क्यों भाई, भगवान अँग्रेजी नहीं समझते क्या? क्या वे संस्कृत और हिन्दी ही समझते हैं? क्या वे अँग्रेजी में प्रार्थना सुनकर नाराज हो जायेंगे? यह भारतवर्ष आपके लिये अपना देश हो सकता है, ईश्वर के लिये कोई देश-विदेश नही होता और न उनके लिये कोई भाषा विदेशी है। उनकी भाषा कौन-सी है? किसी ने गोस्वामी जी से पूछा – ईश्वर से प्रार्थना करने के लिये कौन-सी भाषा ठीक रहेगी? वे बोले –

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।
काम जु आवै कामरी का लै करिय कुमाच।।
(दोहावली, ५७२)

प्रेम की भाषा! 'कंकन-किंकिणि' नूपुर की कोई भाषा थोड़े ही है! उन आभूषणों के द्वारा कौन-सी भाषा बोली जा रही थी, जिसको भगवान ने सुना और समझा? ये भक्ति देवी के आभूषण हैं और इनसे जो प्रेमभरी ध्वनि निकली है, उसे ईश्वर सुन लेते हैं। यहीं से सगुण-साकार भक्ति का रस प्रकट होता है। कितने जोर से प्रार्थना करें कि भगवान सुन सकें? किस भाषा में भगवान से प्रार्थना करें कि वे समझ सकें? सच तो यह है कि इतने जोर-जोर से प्रार्थना करने पर भी इसका कोई प्रमाण तो मिलता नहीं कि ईश्वर के सुनने में आया। किसी ने कबीरदास जी से पूछा – ईश्वर से प्रार्थना करने के लिए कितने जोर से बोलना चाहिए। वे बोले – यह तो तुम्हारी इच्छा है तुम चाहे जितनी जोर से बोलो, पर उनके कान तो इतने तेज हैं कि –

चींटी के पग नूपुर बाजे वह भी साहब सुनता है।

चींटी के पैर में नूपुर – अब आप कल्पना कीजिए कि चींटी के कितने बड़े पैर होंगे, उसमें कितने बड़े-बड़े नूपुर बँधे होंगे और उससे कितनी आवाज निकलती होगी। अभिप्राय यह है कि यदि आप अनुराग की भाषा का प्रयोग करते हैं, तो इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि किस देश की कौन-सी शुद्ध या अशुद्ध भाषा का प्रयोग करते हैं।

पण्डित लोग तो इसी विवाद में उलझे रहते हैं। पण्डित बनने जायँ, तो शुद्ध व्याकरण की जरूरत है, पर प्रेम की बात करना हो तो ज्यादा व्याकरण का प्रयोग मत कीजिए। **ज्यादा शुद्ध भाषा का प्रयोग करेंगे, सोच-सोचकर व्याकरण-सम्मत भाषा बोलेंगे, तो उसमें प्रेम का सारा आनन्द ही चला जाएगा।** बच्चा जब माँ से बात करता है तब वह किस भाषा में बात करता है? प्रारम्भ में तो उसकी कोई भाषा नही होती और जब बोलने लगता है तो उसकी भाषा महा-अशुद्ध प्रतीत होती है। पर माँ और बच्चे के बीच भाषा अनुराग की भाषा है। पहली बार ब्रह्म जब वाटिका में आता है, तो वह भक्ति की वाटिका है। वहाँ ब्रह्म के कान में सर्वप्रथम भक्ति के आभूषणों की ध्वनि सुनाई पड़ी। और उसके बाद? – खोज हो रही है कि कहाँ है ईश्वर? वहाँ पर जो वर्णन है, उसे रस की दृष्टि से देखें तो उसमें रस भी है। श्रीराम सीताजी को देख रहे हैं, पर सीताजी श्रीराम को नहीं देख रही हैं। तत्त्वत: तो दोनों अभिन्न हैं, पर हमारे जीवन का सत्य क्या है? किशोरी जी अपनी लीला के द्वारा हमारे जीवन का सत्य ही तो प्रगट कर रही हैं! ईश्वर हमें देख रहे हैं, पर हम उसे नहीं देख रहे हैं। दिखाई कहाँ दिये – लता की ओट में –

लता ओट तब सखिन्ह लखाए। १/२३२/३

बस यही तो सूत्र है। यह जो व्यवधान है, इसे आप लता का नाम दीजिए, माया का नाम दीजिए, यही न दिखाई देने का कारण है। और सीताजी की अष्ट-सखियाँ – उपासनाएँ हैं। वे संकेत करती हैं – वह देखिए। अब भगवान दिखाई तो देते हैं, पर लता की ओट से। पहले दिखाई नहीं दे रहे थे, अब दिखाई दे रहे हैं, पर बीच में लता का जाल होने के कारण पूरी तौर से नहीं दिखाई दे रहे हैं। पर लता-जाल में छिद्र भी तो हैं, इसलिए कुछ दिखाई भी दे रहे हैं। यह कुछ दिखाई देना और कुछ दिखाई न देना भी उपासना का एक खेल है, साधना का एक आनन्द है। यदि पूरा दिखाई दे जाय, तो व्याकुलता चली जायेगी और बिल्कुल न दिखाई दे, तो व्यक्ति के अन्त:करण में नास्तिकता आ जाएगी, अत: दोनों का सामंजस्य ही ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य है।

अन्त में सीताजी व्याकुल हो जाती हैं –

कहँ गए नृप किसोर मनु चिंता ।। १/२३२/१

सखियाँ लता की ओट में दिखाती हैं। अब वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म सगुण-साकार हो गया। पहचानने वाली सखियों ने आवरण होने के बाद भी उसे पहचान लिया। साधारण व्यक्ति तो क्या, बड़े-से-बड़ा बुद्धिमान व्यक्ति भी आवरण के कारण उसे नही पहचान पाते।

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे ।
बिधि हरि संभु नचावनिहारे ।। २/१२७/१

वह सबको देख रहा है और उसे कोई नहीं देख पाता, पर अब तो वह पकड़ में आ गया। गोस्वामी जी कहते हैं –

लता भवन तें प्रगट भे
तेहि अवसर दोऊ भाइ ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु
जलद पटल बिलगाइ ।। १/२३२

अब जब देख ही लिया तो चलो पूरा ही दिखा दें, पहले नहीं दिखाते, फिर दिखाते हैं तो थोड़ा आँख-मिचौनी का खेल खेलते हैं। अब जब प्रगट हुए तो जो दर्शन हो रहा है, उसकी विशेषता क्या है? श्रीराम पर जब दृष्टि जाती है तो वहाॅ पर वर्णन किया गया है – अरूप को रूप, निर्गुण को सगुण रूप में। उसके पश्चात् उनके श्रृंगार का वर्णन। उनका श्रृंगार क्या है? यों तो श्रृंगार के द्वारा सुन्दरता की शोभा बढ़ाई जाती है, पर यदि वह ब्रह्म है तो आभूषण के द्वारा उसकी सुन्दरता बढ़ाने का तो कोई औचित्य नही है। वहाँ पर जो आभूषणों का वर्णन है, वह भक्ति-सिद्धान्त की व्याख्या है। आभूषण अर्थात् जिसे धारण किया जाय, भगवान जिन भक्तों को धारण करते हैं, मानो उनकी भावना भरी वृत्तियों को आभूषण बनाकर धारण करते है। इस पूरे प्रसंग को आप इसी दृष्टि से पढ़ें। वहाँ वर्णित आभूषण परम्परा के अनुकूल हैं। भगवान आभूषण से सुन्दर दिखते हैं तो चलिए, आप भी उनका श्रृंगार कीजिए। मन्दिर में आप भगवान के लिए वस्त्र-आभूषण लाकर उन्हें सजाइए। लेकिन वहाँ आभूषण के रूप में जो वस्तुएँ आपको दिखाई देंगी, उन सबका अर्थ है। गोस्वामी जी कहते हैं – सखी की दृष्टि सबसे पहले कहाॅ गई – देखा कि सिर पर मोरपंख शोभित हो रहा था –

मोर पंख सिर सोहत नीके ।। १/२३३/२

यह वर्णन भक्ति-साधना का स्वरूप है। यह तो प्रसिद्ध है कि भगवान श्रीकृष्ण मोरपंखधारी हैं, परन्तु पुष्पवाटिका में श्रीराम भी मोरपंख-धारी हैं। सखी श्रीराम के आभूषण का वर्णन करती है। उनके मस्तक पर और किसी आभूषण का वर्णन नहीं किया गया, सोने और हीरे का वर्णन नही किया गया, बल्कि वहाॅ पर तो सखी यही कहती है – उनके सिर पर मोरपंख कितनी शोभा पा रहा है!

अब इस प्रसंग को आप भक्ति की दृष्टि से विचार करके देखिए। जब भगवान अयोध्या से आए, तब उनके सिर पर मोरपंख नहीं था और जनकपुर आए तो भी नही था, पर जब भक्तिरूपा सीताजी के सामने प्रगट हुए, तो उनके सिर पर मोरपंख है। इसका भावनात्मक तात्पर्य यह है कि वेदान्त का ब्रह्म अब तक निष्पक्ष था, पर अब वह पक्षधर हो गया है।

इसे मोर क्यों कहते हैं? भाषाशास्त्री तो कहेंगे कि मयूर से बिगड़कर मोर हो गया, पर भक्त की दृष्टि अलग है। किसी ने गोस्वामी जी से कहा – अरे, यह मोर तो बड़ा विचित्र है, ऐसा बेडौल शरीर, कोई सन्तुलन नहीं, बोलता है डरपोक जैसा और खाता है साँप –

तनु बिचित्र कायर बचन, अहि अहार मन घोर ।
तुलसी हरि भए पच्छ धर ताते कह सब मोर ।।
(दोहावली, १०७)

मोर के इतने अवगुण होने पर भी भगवान ने उसका पंख अपने सिर पर धारण कर लिया – भगवान उसके पक्षधर बन गये, तो सभी उन्हें प्रेम से मोर (मेरा) कहने लगे। अभिप्राय यह कि ब्रह्म भक्तिदेवी सीताजी के सामने आकर अब निष्पक्ष नही रह गया। जब तक भक्ति के परे है, तब तक निष्पक्ष है, पर जब भक्त का आगमन होगा तब ब्रह्म पक्षधर हो जायेगा।

अब प्रश्न उठा कि वहाँ भगवान राम को यह मोरपंख कहाँ से मिल गया? जब वे फूल लेने वाटिका में आए, तब तो उनके सिर पर यह मोरपंख नहीं था? बड़ा मधुर वर्णन है प्रभु जब वहाँ आते है, तो उन्हें देखकर मोर नाचने लगा –

चातक कोकिल कीर चकोरा ।
कूजत बिहग नटत कल मोरा ।। १/२२७/६

और मोर जब वह आनन्द में भरकर नाचता है, तो उसके शरीर से पँख गिर जाता है, लक्ष्मण उसे उठा लेते है और भगवान के सिर पर धारण करा देते हैं, अब भगवान मोर-पक्षधर अर्थात् मेरा-पक्षधर हो गए। परन्तु यह मोर कहाॅ का है? यह मोर वस्तुत: जनक-नन्दिनी सीताजी की वाटिका का है। इसका अर्थ है कि भक्ति देवी जब जिसको अपना लेगी, भगवान उसी का पक्ष लेंगे। इस तरह से जनकपुर में निर्गुण से सगुण लीला प्रारम्भ हुई और यह धनुषयज्ञ उसकी पराकाष्ठा है। जब तक ब्रह्म अपने स्वरूप में स्थित है, तब तक उसे न खोना है, न पाना है, न सुख है, न दुख है, न हानि है, न लाभ है और न ही उसे धनुष तोड़ना है। लेकिन जब जनक व्याकुल हो गये – धनुष नहीं टूटेगा, तो कितना अनर्थ हो जायेगा। तब आप गुरु की भूमिका देखते हैं। गुरु विश्वामित्र कहते हैं – "उठो राम, कब तक द्रष्टा ब्रह्म बने बैठे रहोगे? अब जरा उठकर खड़े तो हो जाओ।" यही गुरु की भूमिका है। इसके बाद के पूरे प्रसंग में भगवान ने मानो जनक को भी बता दिया कि ब्रह्म को सगुण बनाए बिना तुम्हारी समस्या का

समाधान नहीं होगा। तुम चाहते हो कि धनुष टूटे, तो यह तो बिना सगुण हुए और बिना प्रयत्न के नही होगा। उसमें एक क्रम है। भगवान श्रीराम सहज भाव से उठे –

सहज सरूप कथा मुनि
बरनत रहत सकुचि सिर नाई ।। (विनय., १६४)

सहज, लेकिन आज जो सहज ब्रह्म है उसका उद्देश्य क्या है? जब भगवान सहज भाव से चलते हैं, तो घबराहट होती है। उठने में कोई विशेषता नहीं, चलने में कोई विशेषता नही और धनुष के पास पहुँच भी गए, तो उसे उठा नही रहे हैं, तोड़ भी नही रहे हैं, तोड़ने की कोई वृत्ति ही दिखाई नहीं दे रही है। वे चारों ओर देख रहे हैं। जनक-नन्दिनी सीताजी व्याकुल हो रही है। व्याकुलता भक्ति का एक लक्षण है। व्याकुलता के बाद ही उपलब्धि का सुख है। जब आप किसी वस्तु को पाने के लिए व्याकुल हो जाते हैं, उसके बाद जब वह वस्तु मिल जाती है, तो आपको आनन्द की अनुभूति होती है। प्रभु ने उठने में, चलने में, धनुष को तोड़ने में इतना विलम्ब किया कि सीताजी व्याकुल हो गईं और उनकी व्याकुलता इस सीमा तक बढ़ गई कि उनकी आँखों में ऑसू आ गए। कुछ लोग आँसू दिखाना बहुत पसन्द करते हैं। ऑसू भक्ति का लक्षण है और कुछ लोग भक्त कहलाने के लिए नाटकवाला आँसू बहाकर दिखा देते हैं। ऑसू तो छिपाने की वस्तु है, वह तो प्रेम का नाता है, आँसू प्रेम की एक स्थिति होती है। पर कोई उसे दिखाने की चेष्टा करे, वह तो कोई प्रेम नहीं है। सीताजी के ऑखों में आँसू आने लगे तो उन्हे लगा – कहीं लोग देख न लें! –

लोचन जलु रह लोचन कोना ।
जैसें परम कृपन कर सोना ।। १/२५९/२

भक्ति-भावना में परम कृपणता अर्थात् प्रेम का गोपन और उस प्रेम की गोपनता को भगवान श्रीराम देख लेते हैं। ब्रह्म तो सहज है, पर अब वह चारों ओर देख रहा है। उनकी दृष्टि जब सीताजी की ऑखों के आँसू पर पड़ी, तो मानो भगवान को एक उपाधि दी गई। – भगवान कौन हैं? बोले – ये विश्व के नेत्र को चुरानेवाले हैं, क्योंकि बड़े सुन्दर हैं –

राजत राज समाज महुँ
कोसलराज किसोर ।
सुन्दर स्यामल गौर तन
बिस्व बिलोचन चोर ।। १/२४२

पर चोर यदि सचमुच कलाकार है तो छिपानेवाले छिपाकर रखे, तो भी वे खोज ही लेते हैं। अब आज यह जो चोर के द्वारा चौर्यकला का प्रसंग है, वह क्या है? – सीताजी के ऑख के कोने में आँसू मानो परम कृपण का सोना है। पर चोर इतना कलाकार निकला कि उसने कोने में छिपे हुए सोने को भी खोज निकाला, देख लिया। आँखों में व्याकुलता का एक कण आँसू हो, भगवान उसी की तो प्रतीक्षा कर रहे थे। देखा – अरे, अब तो थोड़ा भी विलम्ब होगा, तो सीताजी प्राण का परित्याग कर देंगी –

तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा ।
मुएँ करई का सुधा तड़ागा ।।
का बरषा सब कृषी सुखानें ।
समय चुकें पुनि का पछितानें ।।
अस जियँ जानि जानकी देखी ।
प्रभु पुलके लखि प्रीती बिसेषी ।।१/२६१/२-४

जब तक जानकी जी को नही देखा, आगे की लीला नही हुई। जब भक्ति देवी पर दृष्टि गई तब –

गुरहि प्रणामु मनहिं मन कीन्हा ।
अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा ।। १/२६२/५

मानो गुरु ने स्पष्ट कर दिया कि व्याकुलता, उत्कण्ठा के बिना लीला नहीं होती। जब प्राण भगवान के लिए व्याकुल होते हैं, तभी हमारी उत्कण्ठा की पूर्ति होती है। संसार के लिए तो हम ऑसू बहाते रहते हैं, पर जब भगवान के लिए व्याकुलता में आँसू आते हैं, तो भगवान उस अहं के संस्पर्श मात्र से विचलित हो जाते हैं –

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें ।
काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें ।। १/२६१/७

इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि ब्रह्म जब विराजमान थे, तब वह निर्गुण-निराकार के रूप में जनक की मान्यता को प्रदर्शित कर रहे थे; पर जब भक्ति की व्याकुलता के कारण धनुष तोड़ते हैं, तो मानो निर्गुण से सगुण बनते है, भक्ति एवं ज्ञान का मिलन होता है। इस प्रसंग का यही तात्पर्य है।

❖ (क्रमशः) ❖

दान की महिमा

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

सारे धर्मग्रन्थ और नीतिशास्त्र दान की महिमा गाते नहीं थकते। ऊपरी दृष्टि से भी लगता है कि दान एक पुण्य और महान् कर्म है। पर हममें से बहुतों को दान का तत्त्व मालूम नहीं रहता, इसलिए दान की क्रिया से हम अपने आपको लाभान्वित नहीं कर पाते।

सामान्यतः दान का जो रूप प्रचलित है, वह है - भूखे को भोजन देना, नंगे को वस्त्र, किसी धर्मार्थ संस्था को अर्थ या द्रव्य से सहायता देना, कहीं धर्मशाला बनवा देना, कुआँ खुदवा देना, मन्दिर बनवा देना, आदि आदि। ये सब कार्य अच्छे हैं, यदि विवेकपूर्वक किये जायँ। पर यदि दान की क्रिया के पीछे विवेक का अभाव हो, तो दाता और ग्रहीता दोनों के दोनों लाभ से वंचित हो जाते हैं।

दान का प्रभाव दो प्रकार से होता है - एक तो ग्रहीता पर और दूसरा, दाता पर स्वय। दान की क्रिया से ये दोनों ही प्रभावित होते हैं। दान लेकर ग्रहीता में कुण्ठा भी आ सकती है और धन्यता का भाव भी। उसी प्रकार दान देकर दाता दानी का दम्भ भी अपने भीतर अनुभव कर सकता है और कृतकृत्यता का बोध भी। श्रेष्ठ दान वह है, जिसमें दाता कृतकृत्यता का अनुभव करे और ग्रहीता धन्यता का। रामचरित-मानस में काकभुशुण्डि के माध्यम से गरुड़ को ज्ञानदान की चर्चा की गयी है, जहाँ दाता और ग्रहीता में परस्पर कृतकृत्यता और धन्यता का अनुभव-बोध है।

इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द का विचार बड़ा ही मननीय है। वे कहते हैं - "उच्च स्थान पर खड़े होकर और हाथ में कुछ पैसे लेकर यह न कहो - ऐ भिखारी, आओ यह लो। परन्तु इस बात के लिए उपकार मानो कि तुम्हारे सामने वह गरीब है, जिसे दान देकर तुम अपने आप की सहायता कर सकते हो। सौभाग्य पानेवाले का नहीं, बल्कि वास्तव में देनेवाले का है। उसका आभार मानो कि उसने तुम्हें ससार में अपनी उदारता और दया प्रकट करने का अवसर दिया और इस प्रकार तुम शुद्ध और पूर्ण बन सके।"

पर दान देने के पीछे हमारी वृत्ति सामान्यतया ऐसी नहीं होती। हम तो थोड़ा-सा देकर ढेर-सा एहसान लेना चाहते हैं। उससे बेचारा ग्रहीता दब-सा जाता है और उसके जीवन में एक ऐसी कुण्ठा जन्म लेती है, जो दाता के प्रति उसमें कृतज्ञता की जगह आक्रोश का भाव भर देती है। हम एक गरीब लड़के को पढ़ने में थोड़ी-सी सहायता क्या करते हैं कि जीवन-भर अपने दान का ढिंढोरा पीटते रहते हैं। किसी सस्था को दान देते हैं, तो नाम और सम्मान की आशा रखते हैं। धर्म की दृष्टि से देखें तो हम दान को पुण्य के रूप में भँजाना चाहते हैं। इससे दान व्यवसाय का रूप ले लेता है, जिसमें लेन-देन का भाव बना रहता है। ऐसे दान से दाता को भले ही नाम-यश मिल जाये तथा ग्रहीता व्यक्ति या सस्था को भौतिक दृष्टि से लाभ हो, पर दाता को दान का वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता।

दान का वास्तविक मर्म है दाता के स्वार्थ-बोध का विस्तार। अभी व्यक्ति केवल अपने ही परिवार को अपना मानता है, पर जब वह दान देता है, तो मानो अपने स्वार्थ को विस्तृत करता है - अब एक बड़े दायरे को अपना मानने की चेष्टा करता है। इस प्रकार दान निःस्वार्थता का पाठ है। यदि यह भाव रहे कि परोपकार में अपना ही उपकार है, तो दान दाता के जीवन में सही सही लाभ लाकर उपस्थित करता है।

अमेरिका में राकफेलर अपने मित्र के कहने पर स्वामी विवेकानन्द से मिलने आये। राकफेलर में तब दान की वृत्ति नहीं थी। स्वामीजी ने उपदेश के स्वर में उनसे कहा कि तुमको भगवान ने जब इतनी सम्पत्ति दी है, तब तुम्हें चाहिए कि अपने को उसका ट्रस्टी समझते हुए उसका उपयोग जनता की भलाई के लिए करो। राकफेलर इस प्रकार उपदेश सुनने के आदी नहीं थे। वे रुष्ट होकर चले गये। कुछ ही दिन बाद वे फिर स्वामीजी से मिलने आये और उनकी मेज पर एक चेक रखते हुए बोले - "यह लीजिए और अब इसके लिए मुझे धन्यवाद दीजिए।" स्वामीजी ने उस चेक को बिना देखे राकफेलर को लौटाते हुए कहा - "बल्कि तुम्हीं मुझे धन्यवाद दो!" स्वामीजी का तात्पर्य था कि मैंने तुम्हें दिशाबोध दिया है इसलिए तुम्हीं मुझे धन्यवाद दोगे। वह एक बड़ी राशि का चेक था, जो अमेरिका की किसी सस्था के नाम काटा गया था। यही राकफेलर का सर्वप्रथम दान था। वह स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा थी, जिसने राकफेलर को सही मायने में दानी बनाया। दान का वास्तविक मर्म भी यही है। ❑❑❑

आत्माराम की आत्मकथा (७)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तो के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य द्वारा इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमे श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे है। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके है – सं.)

यहाँ पर एक अन्य बात का भी उल्लेख कर देना मैं उचित समझता हूँ। मेरे बड़े चचेरे भाई (ललित बाबू) भी प्राय: मठ में आया करते थे और पूज्य बाबूराम महाराज, राजा महाराज तथा महापुरुष जी के साथ भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने मेरे मठ में आने की बात मेरे पिताजी से कह दी थी। सुनकर मेरे पिता ने उन्हीं के मार्फत मुझसे मिलने की इच्छा व्यक्त की। जिस दिन मुझे श्रीमाँ से गेरुआ वस्त्र मिला था, उसी दिन सुबह मैं उनसे मिलने गया। वे मुझे देखकर रोने लगे और कहा – "बेटा, कितने दिन और यह शरीर रहेगा! तब तक यदि थोड़ा धैर्यपूर्वक रहते, तो इस वृद्धावस्था में इतना कष्ट न भोगना पड़ता। मुझे मालूम था तुम गृहस्थी में नही रहोगे। तो भी सबका तुम पर प्रेम और विश्वास है और तुम जानते ही हो कि इसीलिए मैंने वसीयतनामे को तुम्हारे Supervision (देखरेख) में रखा है तथा सम्पत्ति में तुम्हारा हिस्सा भी रखा है। अब तुम्हारी क्या इच्छा है बोलो, क्योंकि उसी के अनुसार थोड़ा परिवर्तन करना होगा।" मैंने कहा – "मैंने तो आपसे तभी कह दिया था कि मुझे कुछ नहीं चाहिए और अब भी यही कहता हूँ कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं भला रह सकूँ तथा ईश्वर को कभी न भूलूँ।" ... मैं और भी बोला – "आपने मेरे प्रति भाइयों के जिस प्रेम तथा विश्वास की बात कही है, उसी को बनाये रखने का यह मार्ग मैंने स्वीकार किया है। यदि सम्पत्ति के साथ कोई संयोग रहे, तो इसके नष्ट होने की आशंका है।"

इसके बाद भोजन के लिए कहे जाने पर मैंने कहा – "मैं अपनी धर्म-माँ के पास भोजन करूँगा। (माँ तब बहरामपुर में थी, अत: उनसे भेंट न हो सकी! ईश्वर जो भी करते हैं, अच्छे के लिए ही करते हैं। शायद मुलाकात होने से वे कोई झंझट खड़ा कर बैठतीं और मैं धर्मसंकट में पड़ जाता।) पिता से विदा माँगी। उन्होंने एक लम्बी साँस लेकर कहा – "काशी जाओगे, पास में किराया है?" मैंने कहा – "पैदल जाने का सोचा है।" जल्दी से पचास रुपये देने लगे। "इतने रुपयों की जरूरत नहीं, केवल तीसरे दर्जे का किराया होने से चल जायेगा" – यह कहकर मैंने सिर्फ दस रुपये लिए। यही पूँजी लेकर मैं काशी गया। मेरे मन में आया था कि माँ से या अपने बन्धुजनों से रेल का किराया माँग लूँगा, उसकी जरूरत नहीं हुई। सबसे विदा लेकर मैं मठ लौट आया।

* * *

काशी पहुँचकर अद्वैत आश्रम में रहा। वहाँ के महन्त महाराज से मेरा पूर्व परिचय था। ... उनसे आश्रम में तीन दिन के रहने की अनुमति लेकर धर्म-माँ को लिखा कि वे तार द्वारा मुझे दस रुपये भेज दें। माँ उस समय काफी बीमार थीं और मेरे प्रिय बन्धु ने माँ के नाम से रुपये मुझे भेज दिये। (मुझे बाद में ज्ञात हुआ कि वे रुपये किसने भेजे थे)। उस पत्र में मैंने लिखा था यदि तीन दिन में रुपये नहीं मिले, तो पैदल ही चल दूँगा। काशी के एक गृहस्थ बन्धु ने एक सुन्दर कम्बल दिया, क्योंकि जाड़े के दिन थे और हरिद्वार-ऋषीकेश में बहुत ठण्ड पड़ती है।

एक दिन **कनखल** में सेवाश्रम में विश्राम करके हरिद्वार-दर्शन किया और अगले दिन **ऋषीकेश** चला गया। शाम को **स्वर्गाश्रम** पहुँचा और जगदम्बा की इच्छा से सर्वप्रथम गिरधारी नामक एक दक्षिणी ब्रह्मचारी से भेंट हुई। वे बड़े भले व्यक्ति थे। उनकी कुटिया के पास एक कमरा खाली था, उसी में उन्होंने मेरे रहने का प्रबन्ध किया। साधुओं के ठहरने के लिए ये कमरे दाता व्यवसाइयों द्वारा बनवाये हुए हैं। जंगल के भीतर कहीं एक, तो कहीं दो छोटे-छोटे कमरे एक साथ बने हुए हैं। पत्थर की दीवारें और टीन की छत! सामने गंगा बह रही थीं और चारों तरफ पहाड़ और वन – बड़ा मनोहर दृश्य था। भिक्षा के लिए वहाँ भोजन का प्रबन्ध था – रोटी, दाल व चावल देते थे। अन्न की चिन्ता नहीं रही, रहने का स्थान भी मिल गया – अपनी इच्छानुसार एकान्त और मनोहर जगह पाकर, माँ की दया की बता स्मरण कर उन्हें बार बार प्रणाम किया। दूसरे दिन उन्हीं दक्षिणी साधु के साथ भिक्षा करने गया – उन्होंने सबसे परिचय भी करवा दिया। गंगा के किनारे एक बड़े पत्थर पर बैठकर हमने एक साथ आहार किया। अंजलि भर-भरकर खूब तृप्तिपूर्वक गंगाजल पिया। स्वर्गाश्रम में उस समय केवल तीस साधु थे।

दिन बड़े शान्ति में बीतने लगे। खूब जप-ध्यान करता। दोपहर को कभी-कभी एकाकी जंगल में घूमने चला जाता और शाम को गंगा-किनारे एक पत्थर पर बैठकर माँ का नाम लेता – बहुत अच्छा लग रहा था। कभी-कभी उन्हीं साधु के

साथ शास्त्र-चर्चा करता। ठाकुर और स्वामीजी पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी, कुछ दिन मठ में भी जाकर ठहरे थे। बीच में दो अन्धे और वयस्क बंगाली साधु आकर रहने लगे, उनसे भी बाते हुई और माँ की इच्छा – वे मेरे प्रति बड़ा प्रेमभाव रखते थे। ब्रह्मचारी हरिदास नाम के एक बंगाली साधु वहाँ पहले से ही रहते थे, लेकिन परिचय बाद में हुआ। उन्होंने कुछ दिन काशी और वृन्दावन के सेवाश्रम में सेवक का काम किया, फिर ऋषीकेश के कैलाश मठ में संन्यास लिया। बड़े भले त्यागी साधु थे और मेरे साथ प्रीति का भाव रखते थे।

स्वर्गाश्रम के पास करीब दो मील तक बिल्व-वृक्षों का जंगल है, उनमें छोटे-छोटे बेल होते थे, भूख लगने पर उन्हीं को तोड़कर गुड़ के साथ खाता। फिर विचार आया – पुराणों में लिखा है कि ऋषि-मुनि जंगल के फल आदि खाकर रहते थे, हम भी चेष्टा करके देखें कि सिर्फ बेल खाकर रहा जा सकता है या नहीं, क्योंकि वहाँ बेल के अतिरिक्त अन्य कोई फल नजर नहीं आया। यदि इस प्रकार रह सका, तो स्वेच्छानुसार भ्रमण कर सकूँगा और किसी के पास अन्न के लिए भिक्षा नहीं माँगनी पड़ेगी। जैसा विचार वैसा ही काम। करीब बीस दिन तक केवल बेल ही खाकर रहा। देह बहुत दुर्बल हो गयी। शरीर से और पेशाब में बेल की गन्ध आने लगी। आखिरकार अन्न खाने के लिए बाध्य हुआ, लेकिन आज भी सोचता हूँ कि यदि वैसे रह पाता, तो इस जीवन में कितना सुख-स्वाच्छन्द्य भोग करता। किसी की परवाह नहीं करता, किसी के सामने हाथ नहीं पसारता। लेकिन वह सम्भव नहीं हुआ – सब माँ की इच्छा !!

दस-ग्यारह महीने हो चुके थे – एक दिन सहसा मठ के गो. महाराज आ पहुँचे। उनके साथ स्वामी करुणानन्द भी थे। उस समय शाम को पाँच बजे होंगे। बोले – ठहरने की इच्छा से आये हैं। मैं उनके भीरु स्वभाव से परिचित था। इसलिए बोला – "आप मेरी कुटिया में रहिए, मैं दूसरा कोई स्थान देख लेता हूँ।" उन दिनों वहाँ अनेक साधु थे, अच्छी कुटियाएँ प्राय: सभी भर गयी थीं। स्वर्गाश्रम की सीमा में, लक्ष्मण झूला की ओर गंगा के ऊपर दो छोटे कमरों को धोकर साफ किया, पर गो. महाराज ने कहा – "ऐसा ठीक नहीं होगा, मैं ही उस कमरे में रहूँगा।" मैं बोला – "यहाँ पर यदि आपको डर लगा, तो आपके चिल्लाने से भी कोई नहीं सुन सकेगा और इस समय इधर भालुओं का उपद्रव काफी बढ़ा हुआ है। दो दिन पहले ही जंगल में घास काटने गई एक पहाड़ी स्त्री को भालू ने मार डाला था।" तथापि उन्होंने बात नहीं मानी और कहा – "तुम मुझे डरा रहे हो, यह घटना सच्ची नहीं है। दरवाजा बन्द करके सो जाऊँगा।" यह कहकर वे वहीं रात बिताने चले गये। अँधेरी रात ! जोरों की हवा चल रही थी। जाड़ों में ऋषीकेश में सूर्यास्त के बाद से सुबह नौ-साढ़े नौ बजे तक हिमालय के ऊपर से और गंगा के बीच से आँधी की तरह हवा चलती है। दिन में कभी नही चलती। इसका कारण कोई नही जानता।

रात के एक-डेढ़ बजे थे, मैं जप कर रहा था, सहसा ब्र. गिरिधारी मुझे जोरों से पुकारने लगे – उनकी कुटिया पास में ही थी। जल्दी से उनके पास गया। उन्होंने दूर एक कुटिया की ओर इशारा करके कहा – "वहाँ साधुओं और नागाओं के बीच लगता है कोई गड़बड़ हो गई है – वहाँ आज ही दो साधु आकर ठहरे हैं, उनमें से एक अन्धे हैं, वे लोग आपके गो. महाराज के साथ वृन्दावन से आये हैं। चलिए देखें क्या बात है !" जाकर देखा, तो आश्चर्यजनक दृश्य ! हमारे गो. महाराज नीचे बैठे हैं और दूसरे साधु बड़े संकुचित होकर उनके पास खड़े हैं – दूसरे कमरे से अन्धे साधु चिल्ला रहे है – "भय की कोई बात नहीं, भय की कोई बात नहीं।" नागा लोग नाराज होकर गो. म. तथा उन दूसरे साधु से पूछ रहे थे – "ये कौन हैं? कब आये हैं? इस कमरे में कौन रहते हैं? और ये दूसरे साधु क्यों इतनी रात को आये हैं? आदि।"

वे इतने डरे हुऐ थे कि चुप रहकर थर-थर काँप रहे थे। हमने नागाओं से पूछा – "बात क्या हुई?" तो बताया – "हम लोग थोड़ी दूरी पर धूनी जलाकर चिलम पी रहे थे, तभी इस कमरे से चिल्लाने की आवाज आई। आकर देखा कि (गो.म. को दिखाकर) ये बैठे थे और दूसरे साधु खड़े थे और दोनों ही एक-दूसरे को जकड़े हुए जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। हमें देखकर चुप हुए और एक-दूसरे को छोड़ा। (दूसरे साधु को दिखाकर) शायद वह चोर है।" हमने बताया – "ऐसी बात नहीं है – आप शान्त होइये – ये हमारे परिचित हैं। पूछता हूँ कि क्या बात है !" मैने पूछा – "क्या बात है गो. महाराज, अच्छा कमरा छोड़कर इस कुटिया में क्यों आये? सब बताइये, इन्हें सन्देह हुआ है।" गो. महाराज – "मुझे डर लगने लगा, इसलिए रात को प्राय: नौ-साढ़े नौ बजे यहाँ आया। पहले सोचा तुम्हारे पास जाऊँ, पर तुम्हारे भजन में बाधा डालने की इच्छा नहीं हुई, इसलिए हम इन (अन्धे साधु) के साथ यहाँ आ गये। मैने नीचे बिस्तर बिछा लिया और दूसरे ने खाट के ऊपर। मैं बैठकर जप कर रहा था और तन्द्रा-सी आ गई थी – इतने में ऐसा लगा कि कोई भालू मेरे ऊपर आकर पड़ा है, इसलिए मै डरकर चिल्लाने लगा – बचाओ, बचाओ। फिर जब नागा रोशनी लेकर आये, तो देखा – ये दूसरे साधु थे।"

दूसरे साधु बोले – "मैं भूल गया था कि ये भी इसी कमरे में हैं – रात को नींद में ही दरवाजा खोल दिया और जब लघुशंका करके लौटा, तो इनके ऊपर गिर गया और इनके पकड़ने से मुझे डर लगा कि शायद भूतों ने पकड़ लिया है।" यह सुनकर हम बहुत हँसे।

फिर मैंने नागा लोगों को पूरी घटना हिन्दी में समझा दी। वे भी हँसते-हँसते चले गये और हम भी खूब हँसते रहे। गो. महाराज से कहा – "तभी कहा था कि आप उस कमरे में नही रह सकेंगे। यदि मेरी बात मान लेते, तो ऐसी घटना नही होती। सुबह सबको ज्ञात हो जायेगा और सब हँसेंगे।" गो. महाराज – "तुम्हीं ने तो भालू की बात बताई थी, इसीलिए ऐसा हुआ।" मैं रात को ही गो. महाराज को अपनी कुटिया में ले आया और खाट पर उनका बिस्तर बिछा दिया।

सुबह मैं दूसरी कुटिया में चला गया। मेरी कुटिया के पास एक उड़िया साधु रहते थे, उनसे थोड़ा ध्यान रखने को कह दिया। छह-सात दिन बाद ही गो. महाराज जाने के लिए व्यग्र हुए और मुझसे कहा – "मुझे टिकट कटाकर ट्रेन में बिठा दो – मैंने धन स्पर्श न करने का व्रत लिया है।" मै बोला – "आपके कपड़े के कोने में बाँध देता हूँ, स्टेशन पर किसी से टिकट कटवा लेना।" पर उन्होंने कहा – "ऐसा नहीं होगा। तुम्हें ही टिकट कटाना होगा।" इसके लिए मुझे व्यर्थ ही तेरह-चौदह मील पैदल चलना पड़ता, क्योंकि ऋषीकेश-रोड स्टेशन वहाँ से करीब साढ़े सात मील दूर था। अब तो स्टेशन शहर के पास ही हो गया है। साधु बनने की इच्छा से आये हुए एक बंगाली ने मुझसे यह भार ले लिया।

कुछ दिन पश्चात् सिद्धानन्द महाराज हृषीकेश में खजांची-बाड़ा मे आकर रहने लगे। कभी-कभी वे मुझे बुलाकर ले जाते। बाद में श्यामला-ताल के न. भी आ गये और कुछ दिन बाद कनखल कोठारी मो. भी आये। इसी बीच एक बार मैं और स्वर्गाश्रम के कुछ साधु नीलकण्ठ महादेव के दर्शन करने गये। पहाड़ के बीच में से रास्ता था। हम रास्ता भूल गये और एक जगह पहाड़ चढ़ाई कर थोड़ा उठे थे कि नीचे जंगल में धड़-धड़ की आवाज सुनाई दी। सब डर गये। हम छह जन थे, उसमें से चार जंगली पशुओं के भय से भागने लगे। मै और सेवागिरी नामक एक साधु वास्तविकता जानने के लिए नीचे खाई में उतरे और देखा – छोटे कद की छोटे सींगोंवाली काले रंग की जंगली गाय, जिसकी आँखें लाल थी, ऊपर की ओर देख रही थी। हमें देखकर वह जंगल के भीतर चली गई। बाद में रास्ते में हम अपने साथियों से मिले और सब एक साथ नीलकण्ठ गये। वहाँ पाँच-छह दिन थे। मुझे वहीं छोड़कर बाकी सभी ग्राम में जाकर भिक्षा करके लाते और मुझे भी खाने को देते।

कुछ दिनों बाद सिद्धानन्द जी के विशेष आग्रह पर मैं ऋषीकेश चला आया। खजाँची-बाड़ा का एक कमरा मेरे लिए छोड़ दिया था। वहाँ रहते यह संकल्प किया दो कुटिया बनायेंगे। सि. महाराज देहरादून जाकर कुछ धन एकत्र करके लाये थे और मुझे मेरे एक मित्र ने कुछ दिया था। १९१९ ई. के प्रारम्भ में खजाँची-बाड़ा के पास ही दो कुटियाँ तैयार हुईं। फिर श्यामला-ताल के न. और सि. महाराज अमरनाथ-दर्शन करने कश्मीर गये। उसके बाद ही ओम ऋषीकेश आये और एक कुटिया में रहने लगे। मैं भी कुटिया के दूसरे कमरे में रहता, बाद में पार्टीशन करके दो के रहने का प्रबन्ध किया गया था। ओम बड़े कमरे मे रहते थे। दयानन्द ठाकुर के शिष्य रामानन्द स्वामी मेरे बगल के कमरे में रहते थे और कनखल के कोठारी महाराज खजाँची-बाड़ा में रहते थे।

उसी समय काशी में पूजनीय लाटू महाराज ने (अप्रैल, १९२० में) महासमाधि ग्रहण किया, सिद्धानन्द महाराज को काश्मीर से लौटकर मेरठ में रहते समय यह सूचना मिली।

❖ (क्रमश:) ❖

पुरखों की थाती

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनिनं कलहो नास्ति न भयं चास्ति जाग्रतः ।।

– उद्यम करते रहनेवाले को कभी गरीबी नहीं सताती, जप करते रहनेवाले को कभी पाप नहीं छूता, मौन रहनेवाले का किसी से झगड़ा नही होता और जागते हुए (सावधान) व्यक्ति को कभी भय नही लगता।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

– मैं अपने दोनों हाथ उठाकर कहता हूँ, पर कोई भी मेरी यह बात नहीं सुनता कि धर्म के द्वारा ही धन तथा काम की प्राप्ति होती है, अत: लोग धर्म का सेवन क्यों नहीं करते। – व्यासदेव

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ।।

– जे स्वयं पर उपकार करनेवालों के प्रति ही साधुता दिखाता है, उसकी साधुता कोई गुण नहीं है; इसके विपरीत अपना अनिष्ट करनेवाले के प्रति दिखाई गई साधुता ही सज्जनों द्वारा साधुता कही जाती है।

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे,
विकसति यदि पद्मं पर्वतानां शिखाग्रे ।
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः
न चलति खलु वाक्यं सज्जनानां कदाचित् ।।

– सम्भव है कि सूर्य पश्चिम दिशा में उदित होने लगे, सम्भव है कि कमल पर्वत के शिखरों पर खिलने लगे, सम्भव है कि मेरु पर्वत अपने स्थान से खिसक जाय या अग्नि में शीतलता आ जाय, परन्तु सज्जन व्यक्ति कभी अपने वचन से डिगते नहीं।

जीवन का रहस्य

मित्र सेन सिंघल, अमेरिका

सार जगत् का क्या है, ठाकुर, मुझको इसका ज्ञान नहीं ।
क्यों लाये हो इस दुनिया में, बिल्कुल भी अनुमान नहीं ।।

सभी शास्त्र यह बतलाते हैं, जग को तुम्हीं बनाते हो ।
नाम-रूप ले तरह-तरह के, कण-कण में रम जाते हो ।।

फिर वर्णित है रूप तुम्हारा, केवल शुद्ध सच्चिदानन्द ।
तुम्हीं बसे हो सब जीवों में, हो प्रच्छन्न परम आनन्द ।।

किन्तु जगत् में जो भी दिखता, वह तो है बिल्कुल उल्टा ।
लगा सदा रहता जीवन में, शोक-रोग झगड़ा-टण्टा ।।

नर है नर का पक्का दुश्मन, स्वारथ उसका कारण एक ।
इसीलिए करता रहता है, वह अनुचित भी कृत्य अनेक ।।

अनाहार-भूकम्प-रोग से, त्राहि-त्राहि करते हैं जन ।
दीख रहा हर ओर, घोर, अपराधों का ताण्डव नर्तन ।।

हाहाकार-मचा है जग में, शान्ति और सन्तोष नहीं ।
ऐसे में भी हो सकता क्या, ईश्वर का अस्तित्व कहीं !!

मानव को राहत पहुँचाने, सृष्ट हुए हैं धर्म अनेक ।
पर उनके अनुयायी लड़ते, छिलके पर ही, गूदा फेंक ।।

शास्त्र सदा कहते हैं - प्राणी, जग में रहो सँभाले होश ।
भुगत रहे तुम निज कर्मों को, ईश्वर को मत देना दोष ।।

जैसी करनी वैसी भरनी, यह वाणी है अति प्राचीन ।
काँटे बोकर फूल चुनोगे, ऐसी आशा है अति हीन ।।

गीता की सलाह मानो तो, कर्मवीर हो कर्म करो ।
फल ईश्वर को करो समर्पण, यथाशक्ति निज धर्म करो ।।

धर्म-मार्ग पर चलो अगर तुम, प्रभु ही सब कुछ कर देंगे ।
सकल मनोरथ सिद्ध करेंगे, भव-बाधा सब हर लेंगे ।।

चाहे लाख प्रलोभन आयें, सच्चाई को मत तजना ।
वैभव का संसार निरर्थक, निज विवेक जाग्रत रखना ।।

विषय-वस्तुओं का आकर्षण, बड़ा भयानक होता है ।
ज्ञानी को भी मोहित करके, बुद्धि भ्रमित कर देता है ।।

तृष्णावश मानव करता है, तरह-तरह के अत्याचार ।
तृष्णा की परिपूर्ति हेतु ही, गली-गली में खुले बजार ।।

भोग न दूर कर सकें तृष्णा, दिन-दिन बढ़ती जाती है ।
यथा अग्नि में घी डालो तो, और प्रबल हो जाती है ।।

सबका अनुभव यही बताता, अनजानी यह बात नहीं ।
लेकिन विषय-भोग दिखते ही, रहता कुछ भी याद नहीं ।

यह जीवन है बस दो दिन का, क्षणभंगुर है सभी यहाँ ।
चाहे जितना संचय कर लो, ले जाओगे साथ कहाँ !!

फिर भी कोई नहीं सँभलता, माया में डूबे सब लोग ।
मुक्ति न चाहे इससे कोई, सबको अतिप्रिय है यह रोग ।।

प्रतिदिन देख सैकड़ों मरते, जानबूझ हम हैं अनजान ।
तभी युधिष्ठिर ने बतलाया, अचरज इसको परम महान् ।

प्रभु कहते, तजकर सब चिन्ता, ले तत्काल शरण मेरी ।
सच्ची राह दिखाकर तुझको, सद्गति कर दूँगा तेरी ।।

मैं उनके कर की कठपुतली, नचा रहे वसुदेव हमें ।
जीवन-मंत्र इसी को कर लो, कभी न होगा क्लेश तुम्हें ।।

वचन दिया भगवान कृष्ण ने, उसमें शंका मत करना ।
उनको ही सर्वस्व बनाकर, जग-जीवन से मत डरना ।।

अपना धर्म निभाना होगा, करो कर्म प्रभु को दो फल ।
हर प्रकार की आशा तजकर, श्रम करना होगा प्रतिपल ।।

जीवन में आते-जाते हैं, खट्टे-मीठे अनुभव जब ।
प्रिय चाहे अप्रिय लगते हों, उनका ही प्रसाद है सब ।।

जीवन-यापन पालन-पोषण, करना होगा सब कुछ ही ।
मायाजाल समझकर लेकिन, मत होना आसक्त कहीं ।।

धन-वैभव, सम्पति-सन्तति सब, सोने की जंजीरें हैं ।
इनसे ध्यान हटाकर देखो, निज अन्तर में हीरे हैं ।।

लोभ-मोह के शृंखल हमको, लगते हैं प्रिय आभूषण ।
लेकिन गरदन से लिपटे ये, मानो राक्षस खर-दूषण ।।

सबमें प्रभु का रूप देखकर, सेवा-प्रेम करो प्रति क्षण ।
मानव-धर्म यही कहता है, रखेगा यह चित्त प्रसन्न ।।

जिन बच्चों के लिए सदा तुम, चिन्ता करते रहते हो ।
उनके स्वार्थपूर्ण कृत्यों को, निशदिन सहते रहते हो ।।

बेशक पैदा हुए तुम्हीं से, पर लेकर निज भाग्य-प्रवाह ।
वे क्या कभी तुम्हारे होंगे, चले जायेंगे अपनी राह ।।

रोना-धोना भाग्य कोसना, क्यों करते हो आठों याम ।
यह सब छोड़ भजन में डूबो, अन्त समय आयेगा काम ।।

इसका मात्र उपाय एक है, यदि करना होवे चरितार्थ ।
सत्संगति में लगे रहो नित, भक्ति-भाव से हो निःस्वार्थ ।।

सन्तों की वाणी सुनने से, चित्त शुद्ध हो जायेगा ।
धर्म-रहस्य प्रकट सब होगा, विषय-मोह मिट जायेगा ।।

भक्ति-भावना की दृढ़ नौका, मिल जायेगी जीवन में ।
जिसमें बैठ सहज ही होगी, यात्रा इस भवसागर में ।।

निशिदिन भजते नाम उन्हीं का, ज्ञान उदय हो जायेगा ।
अन्तर के पट खुल जायेंगे, प्रभु-दर्शन हो जायेगा ।।

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (४)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

अध्याय ५

मुक्ति

इसके पूर्व हमने देखा कि कामनाएँ किस प्रकार मनुष्य को बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में घुमाती रहती हैं। इस विषय में हम बिल्कुल भी स्वाधीन नहीं हैं। जब तक हमारे मन में इस लोक या परलोक से सम्बन्धित कोई इच्छा बाकी रह जाती है, तब तक हमें जन्म-मृत्यु से छुटकारा नहीं मिल सकता। यह निरन्तर आवागमन बड़ा कष्टदायी है और ऐसा लगता है मानो यह कभी समाप्त नहीं होगा।

संसार में भोग्य-विषयों का कोई अन्त नहीं, परन्तु हमारा मन भी भोगों से कभी तृप्त नहीं होता। बड़ी-से-बड़ी प्राप्ति भी हमें यथेष्ट नहीं लगती। हमारी चाहे जितनी भी उन्नति क्यों न हो जाय, हम सदा और भी शक्ति, और भी ज्ञान तथा और भी अधिक सुख के लिए लालायित रहते हैं। कामनाएँ क्रमशः बढ़ती हुई हमें बेचैन करती रहती हैं। कुछ-न-कुछ पाने की इच्छा सदैव हमारे मन को आच्छन्न तथा विकल बनाये रखती है। फिर इन्द्रियों के सुख-भोग के साथ ही दुखरूपी विष भी जुड़ा रहता है। हममें से सभी को असफलता, हताशा, रोग, वियोग, तथा मृत्यु सहना पड़ता है। हर जन्म में ये आकर जीवन को विषाक्त कर डालते हैं।

तो क्या इनसे छुटकारा मिल ही नहीं सकता? दुख तथा निरर्थकता से परिपूर्ण इस अनन्त जीवन से बाहर निकलने का क्या कोई मार्ग नहीं है? हिन्दू शास्त्र कहते हैं – "हाँ, है।"

ईश्वर-प्राप्ति के द्वारा इन सभी दु:ख-कष्टों को दूर किया जा सकता है। हमारे लिए सच्ची काम्य वस्तुएँ हैं – अनन्त आनन्द, असीम ज्ञान और मृत्युहीन अनन्त जीवन। इन्हीं को पाने के निमित्त हम सतत जन्म-मृत्यु के बीच से होकर दौड़ रहे हैं। केवल ईश्वर-प्राप्ति से ही यह परम आकांक्षा पूरी हो सकती है। तब न हमारा जन्म होगा और न मृत्यु। तभी हम इस दु:ख-पीड़ामय संसार से सदा के लिए मुक्त हो सकेंगे।

संसार से छुटकारा पाना ही मुक्ति है। मुक्त लोग यह अनुभव करते हैं कि 'ईश्वर' ही उनका सच्चा स्वरूप है, अत: उनका जीवन मधुमय हो उठता है। उनके हृदय में शाश्वत शान्ति विराजने लगती है। उसमें अभाव, दुख या भय का लेशमात्र तक नहीं रह जाता। असीम प्रेम तथा करुणा की ईश्वरीय प्रेरणा से वे विश्व-मानवता को मुक्ति के पथ पर अग्रसर कराने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

हिन्दू शास्त्र बताते हैं कि यह मुक्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। वस्तुत: हर व्यक्ति इसी लक्ष्य को पाने हेतु प्राणपण से चेष्टा कर रहा है, परन्तु अधिकांश लोगों को यह बात सहज ही समझ में नहीं आती कि मुक्ति की ओर अग्रसर होना इस आजीवन उद्यम का वास्तविक उद्देश्य है।

जब कभी हम संसार में अपनी क्षमता, ज्ञान या सुखों में वृद्धि के लिए प्रयास करते हैं, या मृत्यु के मुख से बचने की चेष्टा करते हैं, उस समय वस्तुत: हमारा लक्ष्य अपने अन्तर में स्थित ईश्वर को प्रकट करना ही होता है। और यह कार्य हम सर्वदा करते रहते हैं। प्रकृति की सीमा में आबद्ध रहकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। प्रकृति से हमें जीवन, ज्ञान, आनन्द, शक्ति आदि जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह सीमित मात्रा में तथा वास्तविक वस्तु का आभास मात्र ही होता है। परन्तु हमारी अन्तरात्मा में ये विशुद्ध तथा असीम मात्रा में विद्यमान हैं, क्योंकि मूलत: हमारी आत्मा और ईश्वर अभेद हैं। और इसी कारण हम प्रकृति से कठोर संघर्ष के द्वारा जो जीवन, ज्ञान, आनन्द, शक्ति आदि प्राप्त करते हैं, उससे कभी सन्तुष्ट नहीं होते।[१] इस खोज या संघर्ष का अन्त तभी होता है, जब हम अपनी आत्मा के ईश्वरत्व की अनुभूति कर लेते हैं। **अनन्त सच्चिदानन्द-सागर में पहुँचने के बाद हमें प्रकृति की कृपा से प्राप्त सुख-कणों की आकांक्षा नहीं रह जाती।**

इस प्रकार, जाने या अनजाने, पृथ्वी का प्रत्येक जीव अपने अन्तर में स्थित शाश्वत व सनातन देवता को पाने की स्वाभाविक प्रेरणा से आगे बढ़ रहा है। दूसरे शब्दों में, सभी लोग इस संसार से मुक्ति पाने के प्रयास में लगे हैं।

परन्तु संसार में बिना-लक्ष्य के भटकने में कोई सार्थकता नहीं है। यह हमारे बन्धन को दृढ़तर करता है। यदि मुक्ति पाने से ही हमारी समस्त आशा-आकांक्षाएँ पूरी होनेवाली हैं, तो हमें अपने जीवन के प्रारम्भ में यह बात जान लेना उचित होगा। इसके द्वारा अनेक समस्याओं से बचा जा सकता है। इसलिए **हिन्दुओं को बचपन से ही सिखाया जाता है कि मुक्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है** और उन्हें आजीवन इस लक्ष्य की ओर अग्रसर होना पड़ेगा।

---

१. देखिए – छान्दोग्य उपनिषद्, ७/२३

वैसे मुक्ति पाना कोई सरल कार्य नहीं है। इसका मार्ग बहुत लम्बा तथा कठिन है। ईश्वर का साक्षात्कार करने पर ही जीव की मुक्ति होती है। नि:सन्देह ईश्वर हमारे भीतर-बाहर – सर्वत्र विद्यमान हैं, पर जब तक हमारे मन में लेश मात्र भी मलिनता रहेगी, तब तक उन्हें जाना नहीं जा सकता। इसीलिए उन्हें पाने के लिए मन की पूर्ण शुद्धि आवश्यक है। अतः वस्तुतः **चित्तशुद्धि ही हमारा वह एकमात्र कार्य है, जो हमें मुक्तिलाभ होने के पूर्व तक सतत किये जाना होगा।** चित्त की पूर्ण निर्मलता ही हमारे व्यावहारिक धर्म तथा साधना की चरम परिणति है।

यह चित्तशुद्धि एक सुदीर्घ प्रक्रिया है। इसमें लगने वाले समय की माप माह या वर्षों में नहीं हो सकती। परम लक्ष्य तक पहुँचने में अनेक जन्म भी लग सकते हैं।[२]

हिन्दू शास्त्र हमें आश्वस्त करते हैं कि एक जीवन में की गई आध्यात्मिक उन्नति कभी नष्ट नहीं होती। उसी पूँजी के साथ नया जन्म शुरू होता है। फिर इन शास्त्रों में चित्तशुद्धि की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए साधना का निर्देश भी मिलता है। किसी का भी मन सदा समान अवस्था में नहीं रहता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की वर्तमान मानसिक दशा पिछले जन्मों की साधना द्वारा निर्धारित होती है। इसीलिए हममें से प्रत्येक की क्षमता, रुचि तथा दृष्टिकोण में इतना भेद है। किसी का चित्त दूषित है, तो किसी का परिष्कृत। हिन्दू धर्म में हर किसी की मानसिक अवस्था के अनुरूप चित्तशुद्धि की व्यवस्था है।

अब देखें कि चित्तशुद्धि का यथार्थ तात्पर्य क्या है? सामान्य लोगों की दृष्टि इस पृथ्वी तक ही सीमित है। हमें अपने पूरे मन को पृथ्वी के आकर्षणों से निकालकर ईश्वर की ओर मोड़ना होगा। मन को विषयों से हटाकर ईश-चिन्तन में लगाना होगा। इसी को चित्तशुद्धि कहते हैं। ऐसा कर पाने से ही ईश्वर-प्राप्ति तथा चिर-मुक्ति की उपलब्धि होती है।

पर इहलोक तथा परलोक की अनेक मोहक चीजें हमारी इन्द्रियों को आकृष्ट किये रहती हैं और हमारा मन इन्द्रियों के पीछे भागता है। इसीलिए हम अपने जीवन के लक्ष्य – ईश्वर को भूल जाते हैं।[३] इन मोहक वस्तुओं के पीछे दौड़ रहे उन्मत्त मन को रोक पाना कोई सरल कार्य नहीं है।

तथापि चाहे जितना भी समय क्यों न लगे, हमें इसके लिए प्रयास करना ही होगा। सारे भोग्य विषयों पर से अपनी आसक्ति को हटाना होगा।[४] यह कार्य भले ही कठिन लगता हो, परन्तु सच्चे तथा सतत प्रयास के द्वारा यह सम्भव हो सकता है। आसक्ति जितनी ही घटती जाती है, हमारा मन उतना ही भगवान के निकट-से-निकटतर अग्रसर होता जाता है। हमारा मन आसक्ति-रूपी कीचड़ में सने लौह-कणों के समान है। आसक्ति-कीचड़ को धो डालने पर ईश्वर उसे एक शक्तिशाली चुम्बक की भाँति अपनी ओर खींच लेते हैं।

भोग्य-विषयों के प्रति इस आसक्ति को एक दिन में नहीं छोड़ा जा सकता। यहाँ तक कि आसक्ति त्यागने की कल्पना तक बहुतों के मन में आतंक पैदा कर देती है। अपरिष्कृत मन के सामान्य लोग छोटे बच्चों की भाँति संसार की चीजों का भोग करना चाहते हैं। इस श्रेणी के लोगों को पूर्ण त्याग करने की जरूरत नहीं है। ऐसे लोगों की क्रमिक उन्नति के लिए हिन्दू-धर्म में प्राथमिक साधना की व्यवस्था की गयी है, जिसे प्रवृत्ति-मार्ग कहते हैं। इसमें व्यक्ति को इहलोक तथा परलोक के उत्तम भोगों की इच्छा करने की अनुमति प्राप्त है और उनकी प्राप्ति के उपाय भी बताये गये हैं। जो लोग ईमानदारी के साथ इस मार्ग पर चलते हैं, वे भी अपने दु:खों की मात्रा घटाकर इहलोक तथा परलोक में यथेष्ट सुख-भोग के अधिकारी होते हैं। इतना ही नहीं, इस प्रक्रिया के द्वारा उनका मन क्रमशः कुछ हद तक शुद्ध हो जाता है। क्योंकि प्रवृत्ति-मार्ग भी वस्तुतः मन को संयत करने की प्राथमिक पद्धति है। वेदों के कर्मकाण्ड यही पथ दिखाते हैं और पूर्व-मीमांसा-दर्शन में इसकी विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है।

एक अन्य श्रेणी के लोग भी हैं, जिन्हें सांसारिक सुख-भोग तुच्छ प्रतीत होते हैं; और साथ ही वे स्वर्ग-आदि उच्चतर लोकों के लिए भी लालायित नहीं होते। वर्तमान तथा पूर्व जन्मों के अनुभव से वे समझ गए हैं कि इन्द्रियों के भोग निस्सार हैं। इसी श्रेणी के लोग साधना के अन्तिम सोपान – निवृत्ति-मार्ग के लिए योग्य पात्र हैं। उन्हें भोगों की सारी कामनाएँ पूर्ण रूप से त्यागकर अपने मन को पूरी तौर से ईश्वर में एकाग्र करना पड़ता है। इसके लिए विभिन्न प्रकार के साधना-मार्गों की व्यवस्था की गई है। व्यक्ति इनमें से किसी एक का भी आश्रय लेकर सीधे चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। वेदों के ज्ञानकाण्ड – उपनिषदों में हमें इस मार्ग का सबसे प्राचीन विवरण प्राप्त होता है।

इस प्रकार हिन्दू धर्म की व्यवस्था के अनुसार साधना के दो स्तरों के द्वारा पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है। पहले प्रवृत्ति (इच्छा-पूर्ति का) मार्ग और तदुपरान्त यथासमय निवृत्ति (त्याग का) मार्ग – यही पूर्णता-प्राप्ति की सम्पूर्ण साधना है। इस मार्ग का समापन तब होगा, जब चित्त से विषयासक्ति का आभास-मात्र भी नष्ट हो जायेगा और हमारे अन्तःकरण में ईश्वर पूर्ण रूप से आलोकित हो उठेंगे। ऐसा होने पर ही हम संसार से छूटकर मुक्ति की उपलब्धि कर सकेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖

२. गीता, ६/४५ ३. गीता, २/६७ ४. गीता, ६/३५

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (२)

कु. जोसेफिन मैक्लाउड, अमेरिका

❖ (पिछले अंक का शेषांश) ❖

मठ की स्थापना के लिए श्रीमती बुल ने कई हजार डॉलर दिये थे। मेरे पास तो अधिक कुछ था नहीं, इसीलिए आठ सौ डॉलर एकत्र करने में ही मुझे कई वर्ष लग गये। एक दिन मैंने स्वामीजी से कहा – "यह थोड़ा-सा धन है, आपके काम आ सकता है।" वे बोले – "ऐसी बात है !" मैंने कहा – "हाँ।" उन्होंने पूछा – "कितना होगा?" और मैंने कहा – "आठ सौ डॉलर।" स्वामीजी तत्काल स्वामी त्रिगुणातीत की ओर उन्मुख होकर बोले – "ले, अपना प्रेस खरीद डाल।" उन्होंने प्रेस खरीद लिया और उसी से रामकृष्ण संघ के बँगला मुखपत्र 'उद्‌बोधन' का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

१८९९ ई. की जुलाई में स्वामीजी भगिनी निवेदिता के साथ पुनः लन्दन आये। भगिनी क्रिस्टीन तथा श्रीमती फंके उनसे वहीं मिलीं। वहाँ से वे अमेरिका आये और उसी वर्ष के सितम्बर में हमारे रिजले मैनर के आवास पर आये, जहाँ हमने उनके तथा उनके साथ के दो गुरुभाइयों – स्वामी तुरीयानन्द तथा स्वामी अभेदानन्द के लिए एक अलग ही कुटीर दे दिया। भगिनी निवेदिता तथा श्रीमती ओली बुल भी वहाँ थीं। वहाँ ऐसे लोगों का एक समूह गढ़ उठा, जो स्वामीजी के प्रति प्रीति एवं श्रद्धा का भाव रखते थे। वे मेरी बहन – श्रीमती लेगेट को 'माँ' कहा करते और खाने की मेज पर हमेशा उनकी बगल में ही बैठते थे। उन्हें चॉकलेट-आइसक्रीम विशेष पसन्द थी और वे कहते, "मैं स्वयं भी चॉकलेट हूँ न, इसीलिए इसे पसन्द करता हूँ।" एक दिन हम लोग स्ट्राबेरी खा रहे थे। किसी ने उनसे पूछा – "स्वामीजी, क्या आपको स्ट्राबेरी पसन्द हैं?" उन्होंने कहा – "मैंने कभी चखकर नहीं देखा।" – क्या कहा? आपने कभी उन्हें चखा तक नहीं ! क्यों, आप प्रतिदिन तो उसे खा रहे हैं।" वे बोले – "वह तो मक्खन से ढँका रहता है – मक्खन के साथ तो कंकड़ भी स्वादिष्ट लगेंगे।"

रिजले मैनर के हॉल में विशाल अलाव के चारों ओर बैठे, वे बातें करते। एक बार जब उन्होंने अपने कुछ विचार व्यक्त किये, तो एक महिला ने कहा – "स्वामीजी, इस विषय में मैं आपसे सहमत नहीं हूँ।" वे बोले – "नहीं? तो फिर यह तुम्हारे लिए नहीं है।" किसी दूसरे ने कहा – "ओह, परन्तु आपकी वही बात तो मुझे सत्य प्रतीत होती है।" इस पर वे दूसरे व्यक्ति के भावों के प्रति पूर्ण सम्मान दिखाते हुए बोले – "अहा, तो फिर वह तुम्हारे लिए ही था।" एक संध्या को वे आन्तरिक प्रेरणा में डूबे हुए भावपूर्ण वार्तालाप में तन्मय थे – उस समय उनका स्वर बड़ा ही कोमल था और लग रहा था मानो कहीं दूर से आ रहा हो; उनके चारों ओर लगभग दर्जन भर श्रोता उस वाक्सुधा का पान कर रहे थे। रात हो जाने पर सभी एक-दूसरे का अभिवादन किए बिना ही विदा हो गये – उस समय वहाँ ऐसा ही एक उच्च भाव व्याप्त था। बाद में श्रीमती लेगेट ने अपनी एक महिला अतिथि के कमरे में जाकर देखा, तो वे अज्ञेयवादी महिला रो रही थीं। श्रीमती लेगेट ने पूछा – "इसका क्या अर्थ है?" उक्त महिला ने उत्तर दिया – "उस व्यक्ति ने मुझे शाश्वत जीवन प्रदान किया है; अब मुझे उनसे कुछ और सुनने की इच्छा नहीं है।"

स्वामीजी जब रिजले मैनर में निवास कर रहे थे, तभी एक अपरिचित महिला का पत्र आया कि हमारा इकलौता भाई लॉस-एंजिलिस में काफी बीमार है। उसके मरणासन्न होने की बात हमें सूचित करना उक्त महिला ने अपना कर्तव्य समझा था। इस पर मेरी बहन ने मुझसे कहा – "मैं सोचती हूँ कि तुम वहाँ चली जाओ।" मैंने कहा – "अवश्य।" दो घण्टों के भीतर ही मेरा सामान बँध गया, बाहर घोड़े तैयार थे और रेल्वे स्टेशन पहुँचने के लिए हमें चार मील की सवारी करनी थी। मैं जब बाहर निकली, तो स्वामीजी ने हाथ उठाकर संस्कृत में आशीर्वचन कहे और फिर बोले – "वहाँ जाकर कुछ कक्षाओं की व्यवस्था कर डालो, तो फिर मैं भी आ पहुचूँगा।" मैं सीधे लॉस-एंजिलिस पहुँची और नगर के बाहरी इलाके में गुलाब के फूलों से आच्छादित एक छोटे-से श्वेत कुटीर में मेरा भाई अत्यन्त बीमार पड़ा हुआ था। और उसके सिरहाने स्वामी विवेकानन्द का एक पूरे आकार का चित्र लटक रहा था। मैं अपने भाई के साथ पिछले दस वर्षों से नहीं मिली थी, अतः उसके साथ एक घण्टा बात करके उसकी अस्वस्थता की पूरी जानकारी लेने के बाद मै अपनी मेजबान श्रीमती ब्लाजेट से मिली और कहा – "मेरा भाई अत्यन्त बीमार है।" उन्होंने कहा – "हाँ।" मैं बोली – "मुझे लगता है कि उसकी मृत्यु हो जायेगी।" उन्होंने कहा – "हाँ।" मैंने कहा – "क्या वह यहीं प्राणत्याग कर सकता है?" उन्होंने कहा – "हाँ, हाँ, क्यों नहीं !" तब मैंने पूछा – "मेरे भाई के बिस्तर के ऊपर जिनका चित्र है, वे कौन हैं?" इस पर वे सत्तरवर्षीय महिला अपनी आयु की मर्यादा के अनुरूप तनकर खड़ी हो गयी और बोली – "यदि पृथ्वी पर ईश्वर नाम का कोई व्यक्ति है, तो वे ये ही हैं।" मैंने पूछा – "इनके विषय में आप क्या जानती हैं?" उन्होंने उत्तर दिया

– "मैं १८९३ ई. में शिकागो में आयोजित धर्म-महासभा में उपस्थित थी और जब उस युवक ने उठकर 'मेरे अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो' कहकर सम्बोधित किया, तो सात हजार लोगों ने एक साथ यंत्रचालित के समान उठकर एक ऐसी शक्ति के प्रति सम्मान व्यक्त किया, जिसके बारे में वे कुछ भी समझ नहीं सके थे। और जब सभा समाप्त हुई, तो मैंने देखा कि दल-की-दल महिलाएँ बेंचों के ऊपर चढ़कर उनके पास पहुँचने का प्रयास कर रही हैं, तब मैंने मन-ही-मन कहा – "बेटा, यदि तुम इस आक्रमण का सामना कर सके, तो मैं तुम्हें भगवान ही समझूँगी।" मैंने श्रीमती ब्लाजेट को बताया कि मैं उन्हें जानती हूँ। उन्होंने कहा – "तुम उन्हें जानती हो?" मैंने कहा – "हाँ, मैं उन्हें न्यूयार्क के कैट्सकिल पहाड़ के दो सौ लोगों की एक बस्ती स्टोन-रिज में देखकर आ रही हूँ।" उन्होंने फिर कहा – "तो फिर तुम उन्हें जानती हो!" मैंने कहा – "आप उन्हें यहाँ निमंत्रित क्यों नहीं करतीं?" उन्होंने पूछा – "मेरे कुटीर में?" मैंने कहा – "वे अवश्य आयेंगे।" तीन सप्ताह के भीतर मेरे भाई का देहान्त हो चुका था और छह सप्ताह के भीतर ही स्वामीजी वहाँ उपस्थित थे और उन्होंने प्रशान्त महासागर के तट पर स्थित कैलिफोर्निया में कक्षाएँ लेनी आरम्भ कर दी थीं।

महीनों तक हम श्रीमती ब्लाजेट के मेहमान रहे। उस छोटे-से कुटीर में तीन शयनकक्ष, एक रन्धनशाला, एक भोजनालय तथा एक बैठकखाना था। प्रतिदिन प्रात:काल हम सुनतीं, स्वामीजी रन्धनशाला के निकट ही स्थित स्नानकक्ष में संस्कृत श्लोकों की आवृत्ति कर रहे हैं। वे अपने बिखरे बालों के साथ बाहर आकर जलपान के लिए तैयार होते। श्रीमती ब्लाजेट स्वादिष्ट पैनकेक (मालपुआ जैसा एक व्यंजन) तैयार करतीं और हम लोग भोजनालय की मेज के पास बैठकर उसे खाते; स्वामीजी भी हमारे साथ ही बैठते और वे श्रीमती ब्लाजेट के साथ कितनी ही मधुर बातें करते; उनके बीच कितने ही तरह के हास्य-व्यंग तथा उत्तर-प्रत्युत्तर चलते रहते। ब्लाजेट पुरुषों की दुष्टता के बारे में बोलतीं और वे महिलाओं की उससे भी बढ़कर विश्वासघात की बातें सुनाते। श्रीमती ब्लाजेट शायद ही कभी स्वामीजी के व्याख्यान सुनने जातीं; वे कहतीं – "मेरा काम है आप लोगों के लौटते ही आपकी रुचि का भोजन प्रदान करना।" स्वामीजी ने 'सत्य-निकेतन' तथा विभिन्न सभागारों में बहुत-से व्याख्यान दिये, परन्तु सम्भवत: उनका सर्वश्रेष्ठ व्याख्यान जो मैंने सुना है, वह 'नाजरथ के ईसा' विषय पर था। उस दिन वे ईसा के माधुर्य तथा प्रभाव में ऐसे डूब गये थे कि उन्हें देखकर लगता था मानो वे आपाद-मस्तक एक उज्ज्वल ज्योति से आवृत्त हैं। लौटते समय मैं बिल्कुल मौन धारण करके चल रही थी, क्योंकि भय था कि उनके मन में जो भाव-तरंगें उठ रही होंगी, कहीं उनमें कोई व्यवधान न उपस्थित हो जाय। सहसा वे मुझसे बोले – "मैं समझ गया हूँ कि वे उसे कैसे बनाते हैं।" मैंने पूछा – "क्या चीज किस प्रकार बनाते हैं?" उन्होंने मुझे बताया, "किस प्रकार वे 'मल्ली-गेटानी-सूप'[१] बनाते हैं, वे लोग उसमें बे-वृक्ष की पत्ती डालते हैं।"

अपने विराट् व्यक्तित्व को भूलकर क्षण मात्र में सामान्य धरातल पर उतर आना, सम्भवत: उनका एक असाधारण वैशिष्ट्य था। जो कोई भी उनके सम्पर्क में आता, वह एक तरह की शान्ति तथा शक्ति पाकर वापस लौटता। मानो वे अपना तेज और बल लोगों में संचारित कर देते। अत: लोगों ने जब भी मुझसे पूछा है, "तुम्हारे मतानुसार आध्यात्मिकता की कसौटी क्या है?" तो मैंने सदैव यही उत्तर दिया है, "सन्त की उपस्थिति से मन में साहस का उदय होता है।" स्वामीजी कहा करते थे, "गुरु को चाहिए कि वह अपने शिष्यों के पाप-ताप ग्रहण कर ले और उन्हें मुक्त हृदय से अपने पथ पर चलने दे। भेद यहीं पर है, परित्राता को दूसरों का भार लेना पड़ता है।"

रिजले मैनर में उन्होंने मेरी भान्जी से एक बात और कही थी, "अलबर्टा, जीवन की कोई भी वास्तविकता कभी तुम्हारी उसकी कल्पना की बराबरी नहीं कर सकती।"

एक दिन श्रीमती ब्लाजेट के घर तीन महिलाएँ स्वामीजी से भेंट करने आयीं। मैं तुरन्त ही कमरे से बाहर चली आयी, ताकि वे उनके साथ एकान्त में वार्तालाप कर सकें। आधे घण्टे बाद स्वामीजी मेरे पास आकर बोले, "ये तीन बहने हैं, चाहती हैं कि मैं पॅसाडेना में इनके घर जाऊँ।" मैंने कहा, "तो फिर चले जाइए।" वे बोले, "क्या यह ठीक होगा?" मैंने कहा, "हाँ, आप जाइए।" ये महिलाएँ थीं – श्रीमती हैंसबरो, कुमारी मीड तथा श्रीमती वाइकॉफ। वाइकॉफ के मकान में ही इस समय हालीवुड का विवेकानन्द-निकेतन अवस्थित है और संघ के एक संन्यासी वहाँ रहते हैं।

कैलीफोर्निया के अलामेडा से १८ अप्रैल, १९०० ई. को उन्होंने मुझे जो पत्र लिखा, शायद वही उनके जीवन का सुन्दरतम पत्र था। वह पत्र 'देववाणी' ग्रन्थ में अन्त में है।

बाद में १९०० ई. में मेरी बहन तथा श्रीयुत लेगेट ने पेरिस की प्रदर्शनी देखने के लिए वहाँ किराये पर एक मकान लिया। हम लोग जून में वहाँ गये और स्वामीजी अगस्त में पहुँचे। वे कुछ सप्ताह हम लोगों के साथ ठहरे और फिर श्रीयुत जेराल्ड नोबल के यहाँ चले गये। ये अविवाहित थे। बाद में उन्होंने नोबेल के विषय में कहा था, "श्री नोबेल जैसे व्यक्ति को एक मित्र के रूप में पाकर मेरा जीवन सार्थक हो गया।" सचमुच ही वे हमारे इन मित्र का बड़ा आदर करते

१. यह सूप दक्षिण भारत के 'मळग्गुतण्णीर' (काली मिर्च के रसम्) का पाश्चात्य संस्करण है। – अनुवादक

थे। इन छह महीनों के दौरान हमारे घर में अनेक अतिथि आये, स्वामीजी प्राय: प्रतिदिन ही मध्याह्न-भोजन के लिए आया करते थे।

पेरिस में एक दिन मध्याह्न-भोजन के समय गायिका मादाम एमा काल्वे ने कहा कि शीतकाल में वे मिस्र जा रही हैं। अत: मैंने जब कहा कि मैं भी जाऊँगी, तो इसके साथ ही उन्होंने स्वामीजी की ओर उन्मुख होकर कहा, "आप मेरे अतिथि के रूप में हम लोगों के साथ मिस्र जाएँगे क्या?" उन्होंने सहमति दी। हमने दो दिन वियना में, नौ दिन कुस्तुन्तुनिया तथा चार दिन एथेन्स में रहकर मिस्र पहुँचने के लिए यात्रा आरम्भ की। वहाँ कुछ दिनों के बाद स्वामीजी ने कहा, "मैं चला जाना चाहता हूँ।" मैंने पूछा, "कहाँ?" उन्होंने उत्तर दिया, "भारत लौट जाना चाहता हूँ।" मैंने कहा, "तो फिर जाइए।" उन्होंने फिर पूछा, "तो फिर जाऊँ न?" मैं बोली, "निश्चित रूप से।" अत: मैंने मादाम काल्वे के पास जाकर कहा, "स्वामीजी भारत लौट जाना चाहते हैं।" वे बोलीं, "अवश्य जायँ।" उन्होंने एक प्रथम श्रेणी का टिकट खरीदकर स्वामीजी को वापस भेज दिया। उन्होंने वहाँ ठीक समय पर पहुँचकर श्रीयुत सेवियर की मृत्यु के बारे में सुना। उन्होंने तत्काल पत्र लिखकर मुझे बताया कि किस शान्ति तथा सुन्दरता के साथ श्रीमती सेवियर ने इस मृत्यु को स्वीकार किया है और वे मायावती आश्रम में इस प्रकार जीवन बिता रही हैं, मानो उनके पति अब भी वहीं निवास कर रहे हों।

इसके बाद मैं नील नदी के तट पर गई और वहाँ कुछ भले अंग्रेज लोगों से मिली। उन लोगों ने मुझे अपने साथ जापान चलने का आग्रह किया। वहाँ जाते समय मुझे पुन: भारत से होकर गुजरने का मौका मिला। फिर मैंने स्वामीजी से भेंट की और उन्होंने कहा कि यदि मैं जापान से आमंत्रण भेजूँ, तो वे आ जायेंगे। जापान में मेरा ओकाकुरा काकाजू से परिचय हुआ, जिन्होंने टोक्यो में ललित-कला के बिजित्स्विन पेंटिंग स्कूल की स्थापना की थी। वे स्वामीजी को जापान में बुलाकर अपना मेहमान बनाने को बड़े उत्सुक थे। परन्तु स्वामीजी के अस्वीकार कर देने पर ओकाकुरा उनसे मिलने के लिए मेरे साथ भारत आये। वह मेरे जीवन के कुछ मधुर क्षणों में से एक था, जब बेलूड़ मठ में कुछ दिन बिताने के बाद जब मि. ओकाकुरा ने थोड़े आवेग के साथ मुझसे कहा, "विवेकानन्द हमारे हैं। वे एक प्राच्य हैं। वे आप लोगों के नहीं हैं।" एक या दो दिन बाद स्वामीजी ने मुझसे कहा, "लगता है मानो काफी काल से खोया हुआ कोई भाई आया हुआ हो।" तब मेरी समझ में आ गया कि उन दोनों के बीच एक सच्ची समझ है। और जब स्वामीजी ने उनसे पूछा, "क्या तुम हमारे संघ में सम्मिलित हो जाओगे?" मि. ओकाकुरा ने उत्तर दिया, "नहीं, अभी मेरा इस संसार से जी नहीं भरा है, तब मेरी समझ में आ गया कि उन दोनों के बीच एक सच्ची समझ है।" उनका यह उत्तर बड़ा ही बुद्धिमतापूर्ण था।

उस वर्ष (१९०२) ग्रीष्मकाल में अमेरिकन वाणिज्य-दूत मि. पैटर्सन ने मुझे दूतावास में रहने का अवसर दिया और वहीं मैंने मि. ओडा को भी ठहराया था। मैं टोक्यो के आसाकुसा मन्दिर में मि. ओडा की मेहमान रह चुकी थी।

उस वर्ष मैंने स्वामीजी को कई बार देखा। अप्रैल में एक दिन उन्होंने कहा, "जगत् में मेरे पास अब कुछ भी नहीं है, अपनी एक पाई तक नहीं है। मुझे जो कुछ मिला था, वह सब मैंने दे डाला है।" मैंने कहा, "स्वामीजी, आप जब तक जीवित रहेंगे, मैं आपको प्रति माह पचास डॉलर देती रहूँगी।" उन्होंने मिनट भर सोचने के बाद कहा, "उससे मेरा काम चल जायगा न?" मैंने उत्तर दिया, "हाँ, हाँ, क्यों नहीं! पर हाँ, उसमें आपके लिए क्रीम की व्यवस्था नहीं हो सकेगी।" मैंने उन्हें तत्काल दो सौ डालर दिये, परन्तु चार महीने पूरे होने के पूर्व ही वे इहलोक से प्रस्थान कर चुके थे।

बेलूड़ मठ में एक दिन (२८ मार्च १९०२ को) भगिनी निवेदिता एक क्रीड़ा-प्रतियोगिता के पुरस्कार वितरित कर रही थीं। मैं स्वामीजी के शयन-कक्ष में खिड़की के पास खड़ी होकर देख रही थी। उसी समय उन्होंने मुझसे कहा, "मैं कदापि चालीस पूरा नहीं करूँगा।" मैं जानती थी कि उस समय उनकी आयु उन्तालिस वर्ष है; इसीलिए मैं बोली, "परन्तु स्वामीजी, बुद्ध के जीवन के महान् कार्य तो उनकी आयु के चालीस तथा अस्सी वर्ष के बीच ही हुए थे।" तो भी उन्होंने कहा, "मैंने अपना सन्देश दे दिया है और अब मुझे जाना ही होगा।" मैंने पूछा, "क्यों जायेंगे?" उन्होंने उत्तर दिया, "बड़े वृक्ष की छाया छोटे वृक्षों को बढ़ने नहीं देती; उनके लिए जगह बनाने को मुझे जाना ही होगा।"

इसके बाद मैं पुन: हिमालय गयी। मैंने फिर कभी स्वामीजी को नहीं देखा। मैं सम्राट् की रजत-जयन्ती के लिए यूरोप गई। मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि मैं केवल उनकी मित्र थी, कभी शिष्या नहीं हुई, मुझे याद है अप्रैल, १९०२ में उनको लिखा अपना अन्तिम पत्र – तब मैं भारत से प्रस्थान कर रही थी और उनसे फिर कभी नहीं मिलनेवाली थी – अपनी इस विदाई के पत्र का एक वाक्य मुझे स्पष्ट रूप से याद है, "मैं तैरूँगी तो आपके साथ और डूबूँगी तो भी आपके साथ।" लिखने के बाद मैंने उस वाक्य को तीन बार पढ़ा और कहा, "क्या सचमुच ही मेरा यही भाव है?" और हाँ, मेरा ऐसा भी विश्वास था। पत्र भेजा गया। और उन्होंने इसे प्राप्त किया, मुझे उसका उत्तर कभी नहीं मिला, क्योंकि ४ जुलाई, १९०२ को उन्होंने देहत्याग कर दिया।

२ जुलाई के दिन निवेदिता ने उनका अन्तिम बार दर्शन किया। वे स्वामीजी को यह पूछने गयी थीं कि एक विशेष विज्ञान को वे अपने स्कूल में पढ़ायें या नहीं। स्वामीजी ने उत्तर दिया, "शायद तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु मेरा मन अन्यत्र लगा हुआ है। मैं मृत्यु के लिए तैयारी कर रहा हूँ।" निवेदिता ने सोचा कि वे बाह्य जगत् के विषय में उदासीन हैं। तब वे बोले, "लेकिन तुम भोजन करके जाना।" भगिनी निवेदिता सर्वदा हिन्दू पद्धति से अपनी अंगुलियों से ही भोजन किया करती थीं। उनके खाने के बाद स्वामीजी ने पानी ढालकर उनके हाथ धुलवाये। एक सच्चे शिष्य के समान वे कह उठीं, "आपका ऐसा करना मुझे उचित नहीं लगता।" वे बोले, "ईसा मसीह ने तो अपने शिष्यों के पाँव धोये थे।" भगिनी निवेदिता बोलते-बोलते रह गयीं, "पर वह तो उनके अन्तिम भेंट के समय हुआ था।" उनकी भी यह अन्तिम भेंट ही थी। उस अन्तिम दिन उन्होंने मेरे तथा अन्य अनेक लोगों के विषय में बातें कीं, मेरे बारे में वे बोले, "वह पवित्रता की प्रतिमूर्ति है, प्रेम की प्रतिमूर्ति है।" अत: इसी वाक्य को मैंने स्वामीजी का अपने प्रति अन्तिम सन्देश माना। दो दिनों बाद उन्होंने देहत्याग कर दिया, परन्तु वे कह गये, "इस बेलूड़ (मठ) में जो आध्यात्मिक शक्ति आयी है, वह पन्द्रह सौ वर्षों तक बनी रहेगी – और यह एक महान् विद्यापीठ में परिणत होगा। ऐसा मत सोचो कि यह मेरी कल्पना है, मैं इसे स्पष्ट देख रहा हूँ।"

४ जुलाई को उन लोगों ने मुझे समुद्री तार द्वारा सूचित किया – "स्वामीजी का निर्वाण हो गया है।" कई दिनो तक मैं स्तब्ध रही। मैंने तार का उत्तर ही नहीं दिया। और फिर जो उदासी का भाव मानो मेरे जीवन में भर गया था, इसके कारण मैं वर्षों तक रोती रही। इसके बाद जब मैंने मैटरलिंक का यह वाक्य पढ़ा, "यदि तुम किसी से अत्यधिक प्रभावित हुए हो, तो इसे अपने आँसुओं से नहीं, बल्कि अपने जीवन से सिद्ध करो," तो इसके बाद मैं फिर कभी नहीं रोयी। मैं अमेरिका लौट गयी और जिन स्थानों पर स्वामीजी रहे थे, उनके चिह्न ढूँढ़ने लगी। मैं सहस्र-द्वीपोद्यान गयी और वहाँ के कुटीर की स्वामिनी श्रीमती डचर की मेहमान होकर रही। उन्होंने मुझे वही कमरा दिया, जिसमें स्वामीजी ठहरे थे।

चौदह वर्षों बाद मैं फिर भारत आयी। तब मैं प्रोफेसर तथा श्रीमती गेडेस के साथ थी। उस समय मुझे बोध हुआ कि भारत कोई निराशा का स्थान नही है, बल्कि आधे दर्जन मठों, हजारों केन्द्रों तथा सैकड़ों समितियों के द्वारा सम्पूर्ण भारत ही स्वामीजी के विचारों से प्राणवन्त है। तब से मैं बारम्बार भारत जाती रही। वे लोग मुझे मठ के अतिथि-गृह में रखते है। मैं उनके समक्ष स्वामी विवेकानन्द को सजीव कर देती हूँ, क्योंकि इन युवकों में से किसी ने भी उन्हें देखा नहीं है। एक बार जब मैंने उनसे पूछा था, "स्वामीजी, मैं आपकी किस प्रकार सर्वाधिक सहायता कर सकती हूँ?" तो उनका उत्तर था, "भारत से प्रेम करो।" और मुझे इस बात का स्मरण करते हुए भारत में रहना अच्छा लगता है। और बेलूड़ मठ की अतिथिशाला की दूसरी मंजिल मानो मेरा अपना आवास है। वहाँ मैं प्रत्येक जाड़े में जाती हूँ और आजीवन जाती रहूँगी। **(प्रबुद्ध भारत, दिसम्बर १९४९ से)**

(स्वामीजी के देहान्त के बाद बेलूड़ मठ के अतिथि-भवन से लिखित एक बिना-दिनांक के पत्र मे कु. मैक्लाउड ने अपने जीवन पर स्वामीजी के प्रभाव का इन शब्दो में वर्णन किया है –)

स्वामीजी की असीमता के कारण ही मैं उनके प्रति आकृष्ट रही। वे ऐसे विराट् थे कि मैं कभी उनकी गहराई या ऊँचाई या अन्य छोरों की थाह ही नहीं पा सकी। ... अहा, ऐसे व्यक्तित्व के सान्निध्य में व्यक्ति कैसा स्वच्छन्द हो जाता है! वस्तुत: उसका अपने जीवन पर जो प्रभाव पड़ता है, उससे अपने को क्या मिला, यही महत्त्वपूर्ण है, है या नहीं?

आपने पूछा है कि मैं परम तत्त्व में असन्दिग्ध रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी हूँ या नहीं। हाँ, पूरी तौर से। यह मानो मेरे 'स्व' में रस-बस चुका है। स्वामीजी में मैंने जो 'सत्य' देखा, उसने मुझे मुक्त कर दिया है। **दूसरों की भूल-त्रुटियाँ अब महत्त्वहीन लगती हैं। जब अपने पास क्रीड़ांगन के रूप में सत्य का समुद्र विद्यमान हो, तो फिर उनका स्मरण क्यों करना!** स्वामीजी का आगमन मुझे मुक्त करने के लिए हुआ था – यह उतना ही उनके कार्य का अंग था, जितना कि निवेदिता को त्याग में दीक्षित करना और श्रीमती सा. को अद्वैतानुभूति प्रदान करना। परन्तु त्याग ही भारत का सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक उपहार है, और इसीलिए भारत में रहकर भारत के लिए कार्य करनेवाली (निवेदिता) ने कहा था, "दिन-रात मैं केवल एक ही शब्द अपने कानों में गूँजता हुआ सुनती हूँ – स्मरण रहे – त्याग, त्याग, त्याग।" इसीलिए उनका भारत तथा उसकी भावी पीढ़ियों पर ऐसा प्रभाव तथा अधिकार है। मुझमें कोई त्याग नही, पर मेरे पास स्वाधीनता है। भारत की उन्नति को देखने तथा उसमें सहायता करने की स्वाधीनता – अग्निमंत्र में दीक्षित आदर्शवादियों की टोलियों को जीवन नामक जंगल को काटकर नये मार्ग बनाते देखना – यही मेरा कार्य है और इसी से मुझे लगाव है।

मुझे महसूस होता है कि स्वामीजी एक चट्टान हैं, जिन पर मैं खड़ी हो सकती हूँ। मेरे जीवन में उनकी यही भूमिका रही है; पूजा नहीं, स्तुति नही, बल्कि भाँति-भाँति के प्रयोग करने के लिए अपने पाँवो के नीचे एक स्थिरता! अब मैं मुक्त हूँ। यह मुक्त अनुभव करना बड़ा विचित्र है – पश्चिम में मेरी कोई जरूरत नही है, सब कुछ यही – भारत मे है। ...

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अमरनाथ जी की पुकार

स्वामी आत्मानन्द

हमारी गर्भधारिणी माता श्रीमती भाग्यवती धनीराम वर्मा सन् १९६९ में दो ब्रह्मचारियों तथा अन्य भक्तों के साथ श्री अमरनाथ जी के दर्शन कर आयी थीं। पर उस वर्ष हिम-विग्रह बहुत छोटा था। माताजी के शब्दों में वह 'बालरूप' था। जिस वर्ष अधिक-मास या मल-मास हुआ करता है, उस वर्ष श्रावणी पूर्णिमा के दिन श्री अमरनाथ जी का हिम-विग्रह छोटा ही होता है। यह बात भी हमें माताजी ने ही बतायी थी। जब हम कुछ मित्र सन् १९७२ में श्री अमरनाथ जी के दर्शनों को गये थे, तो हिम-विग्रह पूर्ण था – लगभग ९ फुट ऊँचा था। माताजी की इच्छा थी कि वे एक बार पुनः श्री अमरनाथ जी की यात्रा करें और उनके पूर्ण हिम-विग्रह के दर्शन करें।

तदनुसार इस वर्ष (१९७६ में) अमरनाथ-यात्रा की योजना बनी और हम लोग पहलगाम पहुँचे। माताजी का स्वास्थ्य उत्तम था। हम लोगों के यात्रा-दल में २२ व्यक्ति थे। अमरनाथ जी के दो रास्ते थे। एक तो परम्परागत रास्ता है, जिससे 'छड़ी-मुबारिक' की यात्रा होती है। यह पहलगाम होकर जाता है और यात्रा के दिनों में शासन की ओर से सभी प्रकार की व्यवस्था रहती है। इसमें पहला मुकाम चन्दनवाड़ी, दूसरा शेषनाग और तीसरा पचतरणी है। चौथे दिन श्रावणी पूर्णिमा को अमरनाथ जी की गुफा में जाकर हिम-विग्रह के दर्शन कर यात्रीं लौटकर पंचतरणी में मुकाम करते हैं। पाँचवे दिन लौटते हुए चन्दनवाड़ी में मुकाम करते हुए छठे दिन पहलगाम वापस आ जाते हैं। इस प्रकार इस रास्ते से जाने पर यात्रा में पहलगाम से छह दिन लग जाते हैं। जिसमें अधिक चलने की सामर्थ्य है, वे इसे पाँच या चार दिन में भी पूरा कर लेते हैं, पर इससे कम समय में यात्रा नहीं हो सकती। दूसरा रास्ता है सोनमर्ग होकर। इसके लिए श्रीनगर जाकर वहाँ से सोनमर्ग जाना होता है। वहाँ से एक ही दिन में बालटाल के रास्ते अमरनाथ जी के दर्शन करके लौटा जा सकता है। प्रश्न होता है कि फिर सब कोई इसी एक दिन वाले रास्ते से क्यों नहीं जाते, क्यों पाँच-छह दिन का कष्ट सहकर पहलगाम के रास्ते से जाते हैं? इसके तीन कारण हैं। एक तो यह कि बालटाल वाला रास्ता अधिक खतरनाक है, वह एक फौजी रास्ता है, शासन उसकी देखभाल नहीं करता और न उसकी ओर से कोई व्यवस्था ही होती है। दूसरा यह कि बालटाल वाले रास्ते का प्रकृति-सौन्दर्य नहीं-सा है, जबकि पहलगाम वाले रास्ते का नैसर्गिक सौन्दर्य अनुपम है। तीसरा और सबसे बड़ा कारण यह है कि बालटाल के रास्ते का कोई धार्मिक महत्त्व नहीं है, जबकि पहलगाम के रास्ते का बड़ा धार्मिक महत्त्व है।

परम्परा कहती है कि भगवान शंकर पार्वती जी को जन्म-मृत्यु, जीव-जगत्-ईश्वर आदि के रहस्यों का उद्घाटन करते हुए अमरकथा सुनाना चाहते थे, जिसके लिए वे नितान्त एकान्त स्थान चाहते थे। उन्होंने देखा कि उनका नन्दी इस कथा को सुनने की पात्रता नहीं रखता। इसलिए उन्होंने उसका परित्याग कर दिया। जिस स्थान पर उन्होंने नन्दी को छोड़ा, उसका नाम पड़ा 'बलदग्राम', जो क्रमशः भ्रश होकर 'पहलगाम' हो गया। कुछ आगे बढ़ने पर शकरजी ने अपने मस्तक में स्थित चन्द्र को भी अमरकथा का अधिकारी नहीं समझा। जहाँ उन्होंने चन्द्र का त्याग किया, वह बाद में 'चन्दनवाड़ी' के नाम से परिचित हुआ। कुछ और आगे बढ़ने पर जहाँ उन्होंने शेषनाग को भी उस कथा के श्रवण का पात्र न समझते हुए छोड़ दिया, वह 'शेषनाग' कहलाया। फिर उन्होंने अपने सिर में स्थित पचमुखी गगा को भी कथा सुनने का पात्र न माना। जहाँ भगवान शकर ने इस गगा का त्याग किया, वह 'पचतरणी' के

पिछले पृष्ठ का शेषांश

महान् गंगा के तट पर अतिथि-भवन की ऊपरी मंजिल में दो नये कमरों के विस्तृत परिवेश में मैं बड़े सुख और शान्तिपूर्वक हूँ। ऐसे आनन्द में कहीं रहने की बात मैंने कभी सपने में भी नहीं सोचा था! खुलेपन का सुख – देखभाल करने को फर्नीचर, गलीचे, चित्र, तश्तरियाँ आदि कुछ भी नहीं – केवल एक टी-सेट है। चीजों का वह बोझ जा चुका है। क्या क्या करना है और किस-किस चीज की देखभाल करनी है – ये सब भाव लुप्त हो चुके हैं। तथापि मैं एकाकी नहीं हूँ! (ऐसा तो मैं सहन ही नहीं कर सकूँगी।) इस शरीर में रहते हुए ही स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव है।

मुझे ऐसा अनुभव होता है – और फिर उन सारी चीजों की क्या आवश्यकता है? यही तो आश्चर्य की बात है!

स्वामीजी ने श्रीमती लेगेट को एक पत्र में लिखा था – "ईश्वर हम छोटी-छोटी बुद्धिवाले लोगो को बुद्धू बना रहे हैं, परन्तु इस बार वे इसमें सफल नहीं होंगे। मुझे बुद्धि के परे की दो-एक चीजें प्राप्त हो गयी हैं और वह है – प्रेम।" दोनों धन्य हैं। ❑❑❑

(वेदान्त एंड द वेस्ट, नवम्बर-दिसम्बर १९६२ से)

नाम से विख्यात हुआ। वहाँ से शंकरजी अब केवल पार्वतीजी को साथ ले आगे बढ़े और कुछ दूर जाने पर वह गुफा मिली, जो 'अमरनाथ' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एकान्त स्थान भगवान् शकर को भा गया और वहाँ उन्होंने पार्वतीजी को अमरकथा सुनायी, इसीलिए स्थान का नाम 'अमरनाथ' पड़ा। इस मार्ग में पचतरणी अन्तिम पड़ाव है, यहाँ पाँच धाराओं का संगम होता है और यह 'वैतरणी' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह अत्यन्त पावन स्थान माना जाता है और पुराणों में कहा गया है कि यहाँ पर यदि कोई मृत्यु को प्राप्त होता है, तो वह साक्षात् शिव में लीन हो जाता है।

हम लोगों ने सोनमर्ग के रास्ते से जाने की बड़ी कोशिश की, पर अत्यधिक वर्षा के कारण श्रीनगर का रास्ता कट गया था। वह ६ अगस्त तक भी नहीं खुल पाया था। अतएव हमें पहलगाम के ही रास्ते से जाने के लिए विवश होना पड़ा।

८ अगस्त को हम लोग पचतरणी पहुँचे। माताजी का स्वास्थ्य बिलकुल ठीक था। हम लोग ९ अगस्त श्रावणी पूर्णिमा के दिन भोर में ढाई बजे उठ गये। अमरनाथ जी की पवित्र गुफा वहाँ से केवल ४ मील दूर है। हम लोग शीघ्र दर्शन करके वापस शेषनाग तक लौट जाना चाहते थे। माताजी भी सबके साथ उठीं। तब भी वे पूर्णतः स्वस्थ थीं। केवल किंचित् थकावट का अनुभव उन्हें हो रहा था। उन्होंने किसी से कहा भी, "आज सुबह से जाने कैसी थकावट लग रही है।" पर जब माताजी से कहा गया कि यदि आप थकावट का अनुभव कर रहीं हैं, तो मत जाइए, आप तो पहले अमरनाथ जी के दर्शन कर ही चुकी हैं, तो उन्होंने उत्तर में कहा – "चाहे जितनी भी थकी होऊँ, पर तुम सबसे पहले ही मैं वहाँ पहुँच जाऊँगी।" और ऐसा कह वे तैयारी में लग गयीं। वे प्रसाद बना कर ले गयी थीं। सबको प्रसाद दिया, अपने स्नान के कपड़े अलग किये और जूते पहने। सबसे अच्छी तरह बातें कीं। और जब वे जूते पहनकर जाने के लिए खड़ी हुईं, तो बैठ गयीं। जब उनसे कारण पूछा गया, तो उन्होंने कहा कि सिर में चक्कर आ रहा है। उन्हें लिटाया गया। उनकी बेचैनी कुछ बढ़ने लगी। यात्रा के साथ चलनेवाले चिकित्सक को सूचना दी गयी। वे आये और दवा दे गये। कह गये कि ये घण्टे भर में स्वस्थ हो जायेंगी। उनकी बेचैनी कुछ कम हुई। मैंने अन्य सबको जोर करके अमरनाथ जी के दर्शनों के लिए भेज दिया – यह कहकर कि यदि माताजी को अच्छा लगा तो मैं लेकर आता हूँ। मेरे साथ अन्य तीन लोग रुक गये, जिन्होंने अमरनाथ जी के दर्शन पहले कर लिए थे। कुछ समय बाद माताजी की बेचैनी पुनः बढ़ने लगी। मैं उनके समीप जाकर बैठा और उनकी पीठ सहलाते हुए पूछा – "कैसा लग रहा है?" उन्होंने मेरी गोद में अपना सिर रख लिया और ऐसा लगा कि उनकी बेचैनी शान्त हो रही है। मैं उनके पैरों पर हाथ फेरता रहा। जब ४०-४५ मिनट उन्हें इसी प्रकार मेरी गोद में सिर रखकर पड़े हो गये और उनमें मुझे कोई हलचल न दिखी, तो मैं चौकन्ना हुआ। मैंने उन्हें पुकारा, हिलाया, पर कोई उत्तर नहीं मिला। तुरन्त डॉक्टर को बुलवा भेजा, जिसने आकर घोषित किया कि उनके प्राण छूट चुके हैं। उनका देहावसान सुबह सवा छह बजे हुआ होगा। ठीक जिस समय अमरनाथ जी में 'छड़ी-मुबारक' पहुँची होगी और आरती हो रही होगी। यद्यपि माताजी का सिर मेरी गोद में था, पर मुझे उनकी मृत्यु का तनिक भी आभास न हुआ। न तो उनके गले से कोई आवाज निकली, न अगों में कोई ऐंठन ही हुई। उन्हें देखने पर ऐसा लगा कि वे गहरी नींद में हैं। उनके लिए मृत्यु अत्यन्त शान्तिपूर्वक आयी और वे सचमुच अपने कथनानुसार अमरनाथ जी के पास सभी से पहले पहुँच गयीं और उनसे एकाकार हो गयीं।

वह श्रावणी पूर्णिमा का दिन था – सोमवार, भगवान् शकर का दिन। श्रावण सोमवार और वह भी पूर्णिमा का दिन। भगवान् शिव के महापावन क्षेत्र में पंचतरणी गगा के अति पुनीत तट पर उन्होंने अपनी देह जीर्ण वस्त्र के समान छोड़ दी। उनका जन्म श्रावणी पूर्णिमा के ही दिन ६६ वर्ष पहले उसी समय हुआ था, जिस समय उन्होंने देहत्याग किया। अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में उन्होंने अलग-अलग समय अलग-अलग लोगों से जो भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें कही थीं, वे सब हमने रायपुर आने पर सुनी। आश्चर्य की बात वे सभी-की-सभी सत्य सिद्ध हुईं। उन्होंने किसी से कहा था, "मैं ६६ वर्ष की उम्र में मरूँगी।" बहुत-से लोगों से उन्होंने कहा था, "मेरी मृत्यु गगा के तट पर मेरे बड़े लड़के की गोद में होगी।" जब वे सन् १९६९ में अमरनाथ जी के दर्शन के लिए गयी थीं, तो उनसे प्रार्थना करते हुए सबके सामने कहा था, "हे अमरनाथ बाबा, मुझे दुबारा अपने दर्शनों के लिए बुला लेना, पर वापस मत भेजना।" साथ के लोगों ने यह सुनकर विनोद करते हुए यह भी कहा था, "तुम्हें मरने के लिए कौन दुबारा यहाँ साथ लेकर आएगा ! यह एक ही यात्रा इतनी कठिन पड़ रही है।" अबकी बार यात्रा पर जाने से सप्ताह भर पूर्व वे रायपुर के प्रसिद्ध होम्योपैथ डॉ. बी.सी. गुप्ता के घर के लोगों से मिलने गयी थीं। वहाँ पर जब श्रीमती गुप्ता को मालूम पड़ा कि वे दुबारा अमरनाथ जी की यात्रा पर जा रही हैं, तो उन्होंने कहा भी, "आप जब एक बार वहाँ हो आयी हैं, तो ऐसी कठिन यात्रा

पर दुबारा क्यों जा रही हैं?'' माताजी ने कुछ गम्भीर स्वर में कहा था, ''इसलिए कि अबकी लौटकर नहीं आऊँगी।'' स्वर में ऐसी दृढ़ता थी कि सभी अचम्भित रह गये थे। फिर भी वातावरण को कुछ हल्का बनाने की दृष्टि से श्रीमती गुप्ता ने हँसते हुए कहा, ''लौटकर नहीं आएँगी, तो क्या करेंगी?'' माताजी ने भी हँसते हुए उत्तर दिया था, ''वहीं रहूँगी।''

माताजी ने कई वर्षों पहले मुझसे कहा था, ''किसी ज्योतिषी ने मुझे बताया है कि जब मैं तुम्हारे और तुम्हारे पिताजी के साथ तीर्थयात्रा पर जाऊँगी, तो गगा के तीर पर मेरी मृत्यु होगी।'' यद्यपि मुझे ऐसी बातों पर अधिक विश्वास नहीं होता, तथापि एक खटका उनकी बात ने मेरे मन में पैदा करके रख ही दिया। कभी भी यदि मैं माताजी को साथ लेकर कहीं गया, तो पिताजी को साथ नहीं ले जाता था। पर उस समय अमरनाथ जी की यात्रा पर पिताजी ने भी जाना चाहा, क्योंकि उन्होंने दर्शन नहीं किये थे। माताजी भी जोर देती रहीं कि उन्हें भी ले चलो, उनकी बड़ी इच्छा है। पर मैं उन्हें साथ नहीं ले जाना चाहता था। मेरे ओठों पर यह बात भी आ गयी कि मैं माताजी से कहूँ, ''तुम्हीं ने तो कहा था कि जब हम तीनों साथ में तीर्थयात्रा पर जाएँगे, तो ...।'' पर बात निकली नहीं। और माताजी का देहत्याग का जैसा संकल्प था, वह भगवान् ने अद्भुत ढग से पूरा कर दिया।

वे अपने जीवन-काल में बारम्बार कहा करती, ''मैं भगवान् से यही प्रार्थना करती हूँ कि मुझे फट् से मार देना, जिससे मुझे किसी की सेवा नहीं लेनी पड़े।'' और सचमुच भगवान् ने उनकी प्रार्थना अवश्य सुन ली। न तो मृत्यु के पहले उन्होंने किसी की सेवा ली, न किसी को कष्ट दिया और न मृत्यु के बाद ही। पचतरणी में श्री सनातन धर्म प्रचार सभा, श्रीनगर-वालों का कैम्प था। वैसे सभी पड़ावों में उनके कैम्प थे। वे बड़े सेवाभावी हैं। यात्रियों को बिना किसी भेदभाव के निःशुल्क चाय पिलाते हैं, ४-४ पूड़ियाँ, सब्जी तथा हलवे का प्रसाद देते हैं और यथाशक्ति सब प्रकार से सहायता करते हैं। उन्हें जब माताजी के देहावसान का समाचार मिला, तो उन्होंने हमें निश्चिन्त करते हुए कहा, ''आप चिन्ता न करें। हम सारी व्यवस्था किए देते हैं।'' और उन्होंने सचमुच सारी व्यवस्था कर दी। चिता के लिए लकड़ियाँ इकट्ठी की, घी के पीपे ले आये और मिट्टी तेल भी। पंचतरणी में बड़ी ठण्ड है। वहाँ लकड़ी शीघ्र जलती नहीं। एक तो लकड़ी का मिलना ही दुर्लभ है, क्योंकि वह नीचे से लाया जाता है। फिर सतत कई दिनों की वर्षा के कारण सब कुछ एकदम गीला हो गया था। पर उस दिन ९ अगस्त को सुबह से ही आकाश बिलकुल साफ हो गया और सूर्य के प्रकाश से हिमाच्छादित शिखर अनुपम छटा बिखेरने लगे। बादलों से ढँका हिमालय बड़ा भयानक लगता है और जब वहाँ धूप चमकती है, तो सर्वत्र सौन्दर्य बिखर जाता है। सभा के स्वयंसेवकों ने पचतरणी गगा के पावन सगम पर जिसे वैतरणी भी कहकर पुकारते हैं, चिता रच दी और अन्त्येष्टि की सारी तैयारियाँ पूर्ण कर लीं। अब पिताजी अपने यात्रा-दल के अन्य लोगों के साथ अमरनाथ जी के दर्शन कर लगभग ८ बजे संध्या तम्बू में लौटे, तो माताजी की मृत्यु के समाचार से स्तम्भित हो गये। पर शीघ्र सारे कार्य किये गये और माताजी की मृत देह को संगम पर लाकर चिता पर लिटाया गया। पिताजी ने अन्त्येष्टि सस्कार सम्पन्न किया। ठीक उसी समय आकाश से मेह-बिन्दु झरने लगे और लगभग १५ मिनट तक झरते रहे। सबको यह देख अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि आकाश में कहीं कोई बादल नहीं था, फिर मेह-बिन्दु झरे तो कैसे झरे ! दिन भर सूर्य के चमकने से चिता की लकड़ियाँ भी सूख गयी थी। सात बजे सध्या तक सब कुछ जलकर समाप्त हो गया। हम लोग तम्बू में लौट आये। लगभग ९ बजे रात को अचानक घने बादल घिर आये और लगभग तीस मिनट तक ऐसी घनघोर वर्षा हुई, जैसी कि रास्ते में कहीं नहीं मिली थी। वर्षा के थमते ही बादल भी छँट गये और चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से सारा दिग्दिगन्त चाँदी के समान चमक उठा। एक मित्र उठे और कहा कि मैं जरा चिता को देख आता हूँ। उन्होंने लौटकर बताया कि वर्षा से चिताग्नि शान्त हो गयी है और सुबह बाल्टी में जल भर-भरकर चिता को बुझाने का कष्ट भी नहीं करना पड़ेगा।

माताजी की बात ही सत्य हुई। न उन्होंने जीते-जी किसी को कष्ट दिया और न मरकर ही। वे अमरनाथ जी के दर्शन में किसी के लिए बाधक भी नहीं हुईं। सब कुछ भगवान शंकर ने प्रकृति-नटी के द्वारा करा लिया और अपनी भक्त को अपने में मिलाकर उसे भव-बन्धन से सदा के लिए मुक्त कर दिया। माताजी की बात अनसुनी न रही, आखिर अमरनाथ बाबा ने उन्हें पुकार ही लिया। ❑❑❑

भगवद्-गीता : एक परिपूर्ण जीवन-दर्शन - २

स्वामी सत्यरूपानन्द

हम अविनाशी आत्मा हैं – अर्जुन ने अज्ञानतावश अपने को शरीर समझ लिया था और यही उसके मोहग्रस्त होने का कारण था। उसे अपने अविनाशी सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं था। भगवान ने मनुष्य के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से ही गीता का उपदेश प्रारम्भ किया –

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।। १८/२

– नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान हैं, इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर। आगे आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवान ने अर्जुन को बताया –

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। २३/२

– इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, आग जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता, वायु सुखा नहीं सकती।

यही मनुष्य का सच्चा स्वरूप है। वह अविनाशी अनश्वर, शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य आत्मा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। अपने इस सच्चे स्वरूप को जानना, अनुभव करना ही मानव-जीवन का प्रयोजन है। इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है।

सबसे बड़ी भूल – जीवन की सबसे बड़ी भूल मनुष्य से यह हो गई है कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है। उतना ही नहीं उसने इस देह और मन को ही अपना सच्चा स्वरूप समझ लिया है। यही सबसे बड़ा अज्ञान भी है। इस अज्ञान और भूल के कारण हमारा जीवन जटिल, कुंठित और दुखी हो गया है। हम अपने जीवन की समस्याओं का समाधान केवल देह और मन के संबंधों के आधार पर, भौतिक वस्तुओं और पदार्थगत उपायों द्वारा ही करना चाहते हैं। जीवन में दुख-कष्ट आते हैं। असुविधाएँ होती हैं। जगत व्यवहार में मनमुटाव होता है। वैमनस्य होता है। राग-द्वेष-क्रोध, शत्रुता आदि दुर्भावनाओं के कारण हम निरंतर कष्ट भोग रहे हैं। तन की तुलना में मन बहुत अधिक दुःखी है। इन समस्याओं के समाधान हेतु हमलोग निरंतर शरीर मन के ताल-मेल, तोड़-जोड़ में लगे हुए हैं। कभी स्थान बदलकर, कभी व्यक्ति बदल कर, कभी वस्तु बदलकर, हम जीवन की समस्या का समाधान करना चाहते हैं। जीवन में स्थायी शान्ति और सुख चाहते हैं। किन्तु हमारा अनुभव बताता है कि हम जीवन में स्थायी शान्ति और सुख नहीं पा सके हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि **जीवन केवल भौतिक तत्त्वों से ही नहीं बना है**। यह समस्याएँ केवल भौतिक नहीं हैं। अतः केवल भौतिक वस्तुओं से ही इसका समाधान नहीं किया जा सकता।

मौलिक रूप में जीवन आध्यात्मिक है। अतः जीवन की समस्याओं का समुचित, सम्यक् तथा स्थायी समाधान आध्यात्मिक उपायों से ही संभव है। और इस आध्यात्मिक उपाय की भित्ति है इस अज्ञान को दूर करना कि हम हाड़-मास के पुतले मात्र हैं, हम भौतिक पदार्थों के संघात मात्र हैं। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में अर्जुन से यही भूल हो गई थी। उसने अपने सम्बन्धियों और संबंधों को देह के स्तर पर ही देखा। देहों को लेकर ही उसके मन में मोह आया और इस मोह के कारण क्षण भर में ही उसका व्यक्तित्व बदल गया। उसका स्वभाव ही बदल गया। अर्जुन की वीरता, पराक्रम, निर्भीकता सभी मानो समाप्त हो गए। वह एक अकर्मण्य, नपुंसक, दीन-हीन, कायर व्यक्ति मात्र रह गया। हृदय की दुर्बलता ने उसे मृतप्राय बना दिया।

यह सब इसलिए हुआ कि अर्जुन अपने मूल स्वरूप को भूल गया था। उसने अपने को देहमात्र समझ लिया था। भगवान ने उसकी इस दुर्बलता को, इस रोग को तुरन्त समझ लिया। उसे समझकर भगवान ने इस रोग के दुर्बलता के मूल पर ही कुठाराघात किया। भगवान ने अर्जुन से कहा –

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।

– अरे अर्जुन, इस विषम स्थल में तेरे हृदय में यह दोष कहाँ से आ गया? आर्य पुरुषों ने कभी भी इसे स्वीकार नहीं किया। इससे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। यह अकीर्तिकर है।

उतना ही नहीं मोहजन्य यह दुर्बलता कायरता है, नपुंसकता है। और हम जानते हैं कि दुर्बल और कायर व्यक्ति जीवन के सभी क्षेत्रों में पराजित होकर अन्ततः असफल और नष्ट हो जाता है। इसलिए भगवान अर्जुन को धिक्कारते हैं तथा उसे अपने हृदय की इस दुर्बलता का त्याग करने को कहते हैं –

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।। ३/२

– हे अर्जुन नपुंसकता को मत प्राप्त हो। तुझे यह शोभा नहीं देता। अपने हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो। मोह तथा अज्ञानजनित यह हृदय की दुर्बलता ही हमारे सभी दुःखों का कारण है। स्वामी विवेकानन्द ने तो यहाँ तक कहा कि दुर्बलता ही मृत्यु है और शक्ति ही जीवन है। अतः जीवन की सफलता के लिए, दुःखों से सर्वथा निवृत्त होने के लिए शक्ति की उपासना आवश्यक है, अनिवार्य है।

आत्मा शक्ति का आदिस्रोत – केवल भौतिक शक्ति ही शक्ति नहीं है और न वास्तविक शक्ति का आदिस्रोत है। भौतिक शक्ति को भी नियन्त्रित करके उन पर विजय पाने की

अदम्य शक्ति मनुष्य में विद्यमान है। इस शक्ति का आह्वान कर, उसे जागृत कर ही वस्तुत: मनुष्य सामर्थ्यवान बनता है। आत्मशक्ति की अनुभूति से सामर्थ्यवान हुए व्यक्ति की सामर्थ्य के समक्ष अन्य सभी शक्तियाँ नतमस्तक हो उसकी आज्ञापालक हो जाती हैं। आत्मबल से बलवान हुआ व्यक्ति अपराजेय होता है। वही व्यक्ति जीवन की समस्याओं का वास्तविक और सार्थक समाधान कर सकता है।

शक्ति-प्रप्ति के लिए अपनी दुर्बलता का ज्ञान सोपान है – जब मनुष्य को अपनी दुर्बलता का बोध होता है तभी वह शक्ति का सन्धान करता है। शक्ति प्राप्ति के उपायों को ढूँढ़ता है तथा उन उपायों से शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। किन्तु जो व्यक्ति अपनी दुर्बलता का बोध कर निराश हो जाता और सतत अपनी दुर्बलता का ही चिन्तन करता रहता है वह दिनोंदिन दुर्बल-से-दुर्बलतर होता जाता है तथा एक दिन टूटकर नष्ट हो जाता है।

अत: दुर्बलता को दूर कर शक्ति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दुर्बलता का बोध होते ही हमें तत्काल उसे दूर करने के उपायों पर विचार करना चाहिए। किसी बलवान महापुरुष का आश्रय लेकर अपनी दुर्बलताओं को जीतकर पुन: बलवान होना चाहिए।

अर्जुन ने यही किया। उसने भगवान के सामने अपनी दुर्बलता को, अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता को स्वीकार किया तथा भगवान के शरणागत होकर उनसे उपदेश देने की, रास्ता बताने की प्रार्थना की –

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढ़चेता ।
यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।। ७/२

– कायरता दोष से मेरा स्वभाव हत हो गया है, धर्म के विषय में मेरी बुद्धि मोहित हो गयी है। मैं आपसे पूछता हूँ, मेरे लिए जो कल्याणकर हो वह मुझे बताइए, मैं आपकी शरण में हूँ। आपका शिष्य हूँ, मुझे शिक्षा दीजिए।

अर्जुन का भगवान के प्रति यह समर्पण तथा अपने दोषों की स्वीकृति हमें जीवन की सफलता की, परिपूर्ण जीवन दर्शन की कुंजी देता है। कौन ऐसा व्यक्ति है जिसके जीवन में दुर्बलताएँ न हों? जिसके मन में सन्देह न हो, भ्रम न हो? हम सभी के जीवन में कम अधिक मात्रा में यह सब है तथा हम सभी इससे मुक्त होना चाहते हैं। इनसे मुक्त होने का यही उपाय है जो अर्जुन ने किया। भगवान के या किसी महापुरुष के सम्मुख हमें अपने दोषों को स्वीकार करना होगा, उनसे मार्गदर्शन लेना होगा तथा उसके अनुसार आचरण करना होगा। तभी हम दुर्बलताओं से मुक्त होकर अपने जीवन की समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो सकेंगे।

सांसारिक भोगों की सीमा और व्यर्थता का बोध – अपनी दुर्बलताओं को जान लेना, उन्हें स्वीकार कर लेना जीवन की सफलता का, सुख-शान्ति प्राप्ति का प्रारम्भिक सोपान है। उसके पश्चात् का दूसरा सोपान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सोपान के बिना प्रारम्भिक सोपान पर खड़े रहना हमारी कोई सहायता नहीं कर सकता। उतना ही नहीं वह हानिकारक भी हो सकता है। दुर्बलताओं को तो जान लिया किन्तु उनको दूर करने का उपाय यदि न जान पाएँ अथवा गलत उपायों का अवलम्बन कर लें तो उससे निराश होकर विषादग्रस्त हो जाने की तीव्र सम्भावना रहती है।

इससे बचने हेतु सर्वप्रथम अनुचित तथा अयोग्य अवलम्बनों का ज्ञान जरूरी है। अर्जुन का सौभाग्य था कि उन्हें इसका ज्ञान था। उन्होंने ठीक ठीक जान लिया था कि संसार के सुख-भोग, सांसारिक सुविधाएँ, राज्य, मान, धन, पद-मर्यादा आदि सभी कुछ उनकी इन्द्रियों को सुखा देनेवाले शोक-मोह को दूर नहीं कर सकते। अर्जुन भगवान से कहते हैं –

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।। ८/२

– इस पृथ्वी में शत्रुरहित धन-धान्य सम्पन्न राज्य तथा देवताओं के आधिपत्य को पाकर भी मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले मेरे मन के इस शोक-मोह को दूर करने का कोई उपाय मैं नहीं देख पा रहा हूँ।

अर्जुन के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांसारिक भोगों की, सुख-सुविधाओं की अपनी एक सीमा है। जब तक हमारा मन साधारणत: ठीक है तभी तक सांसारिक भोग और सुविधाएँ हमें थोड़ी देर के लिए सुख दे सकती हैं। किन्तु शीघ्र ही वह क्षणिक सुख नीरस और अलोना हो जाता है। उतना ही नहीं वह रोग-शोक और दु:ख का कारण हो जाता है। इस प्रकार सांसारिक सुख-सुविधाएँ व्यर्थ हो जाती हैं।

अत: गीता के प्रत्येक विद्यार्थी को, गीता के अध्येता को सदैव यह स्मरण रखना होगा कि केवल भौतिक पदार्थों के तोड़-जोड़ से, वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदि के अदल-बदल से जीवन के दु:खों तथा अशान्ति को दूर नहीं किया जा सकता। इन उपायों से थोड़ी देर के लिए उनका शमन भले ही हो जाय, किन्तु पुन: वे सब दुगने वेग से प्रगट होकर जीवन को असह्य वेदनापूर्ण बना देते हैं।

जीवन में स्थायी सुख और शाश्वत शान्ति तो केवल आत्मज्ञान या ईश्वरप्राप्ति से ही सम्भव है। उसके लिए त्याग, वैराग्य ज्ञान, भक्ति आदि की साधना नितांत आवश्यक है। यही मानव जीवन का प्रयोजन भी है। ❑❑❑

माँ की पुण्य-स्मृति

चन्द्र मोहन दत्त

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

हम लोग पूर्वी बंगाल के निवासी हैं। वर्तमान बाँगला देश के ढाका जिले के विक्रमपुर महकमे के गाउपाड़ा गाँव में हमारा निवास था। गाँव के लगभग सभी परिवार शिक्षित वैद्य जाति थे, केवल हमीं लोग कायस्थ – दत्त परिवार के थे। हमारा संयुक्त परिवार था और अन्य समृद्ध परिवारों की भाँति ही हमारा घर भी आम-कटहल के बगीचे, तालाब तथा कई एकड़ भूमि से घिरा हुआ था। बंग-भंग के काफी पूर्व ही वह सब पद्मा नदी के गर्भ में समा गया।

१९१० ई. में नौकरी करने के उद्देश्य से मैं कलकत्ता आया। मेरी इच्छा थी कि स्वयं उपार्जन करके अपना खर्च चलाऊँ। तब मेरी उम्र तीस वर्ष थी। परिवार में किसी बात पर मेरे आत्म-सम्मान को ठेस पहुँची थी, इसलिए अपनी पत्नी तथा पुत्रियों को गाँव में ही रखकर मैं कलकत्ते में अपने बड़े भाई के पास चला आया। मेरे बड़े भाई काली कुमार दत्त मेरे कलकत्ता आने के बहुत पहले से ही वहाँ रेल कम्पनी में नौकरी करते थे और शोभाबाजार में किराये के मकान में निवास करते थे।

बड़े भाई के पास आने के थोड़े दिनों के अन्दर ही मुझे एक भोजनालय में एक अवैतनिक apprentice (शिक्षार्थी) के रूप में हिसाब लिखने की नौकरी मिल गयी। वहाँ वेतन या खाने-पहनने को कुछ नहीं मिलता था। कई महीने तक घर का खाकर दूसरों की भैंस चराने की नौकरी छोड़कर मैंने स्वयं ही शोभाबाजार में किराये के एक कमरे में किराने की दुकान खोली। बिक्री कुछ खास नहीं होती थी। एक दिन देखा – दुकान के सामने की चहारदीवारी पर कोई काली स्याही से लिखा हुआ एक इश्तहार टाँग गया था, जिसमें लिखा था – "आगामी रविवार को बेलूड़ मठ में भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव का जन्मोत्सव मनाया जायेगा। आप लोग बड़ी संख्या में आकर योगदान करें।" इसके पूर्व कभी मैंने श्रीरामकृष्ण का नाम नहीं सुना था। सोचा – ये अवश्य ही कोई महापुरुष होंगे, नहीं तो इस प्रकार लिखकर क्यों सूचना देते! कलकत्ते के उत्सव के विषय में मेरी कोई धारणा नहीं थी, इसलिए उत्सव देखने की बड़ी इच्छा हुई। जाने की इच्छा से मैंने बगल की दुकान के वृद्ध सज्जन से पूछा – "महाशय ये परमहंसदेव कौन हैं? कल रविवार को बेलूड़ मठ में उनका उत्सव मनाया जायेगा, इस बारे में यदि आपको कुछ जानकारी हो, तो कृपया मुझे बतायेंगे?" वृद्ध सज्जन ने थोड़ी देर मुझे देखकर कहा – "लगता है आपका बहुत आग्रह है। महापुरुषों के विषय में श्रद्धा-भक्ति रखना बहुत अच्छा है। हाँ, मैं पिछले वर्ष बेलूड़ मठ गया था। क्या बताऊँ जी – खिचड़ी, पूरी, बूँदी तथा हलुवे का प्रसाद, जो जितना चाहे, खा सकता है।" मैंने पूछा – "बेलूड़ मठ कहाँ है? कैसे जाया जाता है?" वे सज्जन बोले – अहीरी टोला घाट से सुबह सात बजे बेलूड़ के लिए स्टीमर मिलती है। आप उसमें चढ़कर चले जायेंगे, कोई असुविधा नहीं होगी।"

मुझे कलकत्ता आये ज्यादा दिन नहीं हुए थे और वहाँ के रास्ते-घाटों को उतनी अच्छी तरह पहचानता न था, अत: दो परिचित लड़कों से बोला – "कल बेलूड़ मठ में श्रीरामकृष्ण परमहंस देव का उत्सव होगा। उत्सव में प्रसाद की अच्छी व्यवस्था है, मेरे साथ चलोगे?" वे दोनों राजी हो गये।

परमहंस देव के प्रसाद से भी अधिक मैं परमहंस देव का दर्शन करने को व्याकुल हो उठा। घर वापस न लौटकर, पाँच पैसे का मुरमुरा-बताशा खाकर दुकान के बाहर ही बरामदे में सो गया। परमहंस देव के उत्सव में जाऊँगा – इसी आनन्द और उत्तेजना में नींद नहीं आई। किसी प्रकार भी मैं अपने दिमाग से रामकृष्ण नामक परमहंस को हटा नहीं पा रहा था। मेरा दिमाग भँवर की भाँति निरन्तर चक्कर खा रहा था। तब सोचा कि जब परमहंस देव दिमाग से जा नहीं रहे हैं, तो उन्हीं का चिन्तन करके क्यों न रात बिताया जाय।

उन्हीं के बारे में सोचते-सोचते मुझे नींद आ गयी। स्वप्न में देखा – मैं एक विशाल मैदान में पहुँच गया हूँ। वहाँ बहुत-से लोग एकत्र हैं, तरह-तरह के प्रकाशों वाली फूलझड़ियाँ हैं! लोगों की भीड़ मुझे धक्का देकर हटाये दे रही हैं।

* जयरामबाटी-निवासी लेखक डेवपाड़ा के चम्पामणि उच्चविद्यालय के प्रधानाचार्य थे; १९९४ ई. में ८७ वर्ष की आयु में वे दिवंगत हुए।

सहसा एक साँवले मोटे-से व्यक्ति ने आकर मुझे जोर का धक्का दिया और मेरी नींद टूट गयी। देखा कि पुलिसवाला मुझे धक्का देते हुए कह रहा है – "अरे, उठ, उठ।" मैंने पहरेदार पुलिस से कहा – "क्या बात है, मुझे धक्का क्यों दे रहे हो? पुलिस ने कहा –"तुम बाहर क्यों सोये हो? थाने चलना होगा।" मैंने कहा – "यह बरामदा तो मेरी ही दुकान का है।" इतना सुनकर वह आगे कुछ कहे बिना ही चला गया। उन दिनों बाहर सोने पर पुलिस पूछताछ किया करती तथा सन्तुष्ट होने पर छोड़ देती।

सुबह हुई। पिछली रात जिन दो लड़कों से बेलूड़ जाने की बात हुई थी, उनसे उनके घर जाकर मिला, लेकिन दोनों ने बताया कि वे नहीं जा सकेंगे। दुखी मन के साथ मैं दुकान पर लौट आया। दुकान पर आकर मैं दुविधा में पड़ गया – जाऊँ या न जाऊँ? इधर जाने की इच्छा भी तीव्र थी। स्वप्न देखने के बाद इच्छा और भी तीव्र हो गयी। लेकिन रास्ते-घाट बिल्कुल अपरिचित थे, अनजानी जगह में एकाकी जाने का साहस भी नहीं हो रहा था। अस्तु, निश्चय किया कि जाऊँगा। मन-ही-मन सोचा कि परमहंसदेव का नाम लेकर निकल पड़ूँ, फिर देखा जाय क्या होता है? हाटखोला घाट पर गंगास्नान करके एक चादर ओढ़कर 'रामकृष्ण' नाम का स्मरण करते हुए मैं अहीरीटोला घाट की ओर चल पड़ा। घाट पर स्टीमर खड़ी थी। भीड़ बहुत थी! सबको बेलूड़ मठ जाते देख मुझे भी साहस हुआ। दस पैसे में वापसी टिकट खरीदकर स्टीमर पर चढ़ा। चढ़कर सोचने लगा – अब यदि उत्सव देखने को, प्रसाद खाने को मिल जाता!

सायरन बजा, स्टीमर चला। यात्रियों में अधिकांश स्कूल-कॉलेजों के छात्र थे। वे लोग श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी की जय बोलने लगे। उनकी जयध्वनि से उद्दीप्त होकर मैं भी कहने लगा – "जय रामकृष्णदेव की जय! जय स्वामी विवेकानन्द की जय!" जयध्वनि करते हुए मुझे खूब आनन्द हो रहा था। उस आनन्द में मुझे एक दिव्य भाव की अनुभूति होने लगी। मन की चंचलता और उद्विग्नता न जाने कहाँ चली गई। मन भी थोड़ा उदास-सा हो गया? घण्टे भर के भीतर ही स्टीमर बेलूड़ मठ के किनारे जा लगा। घाट पर खड़ी भक्त-मण्डली स्टीमर-यात्रियों को देखकर जयध्वनि कर रही थी – "जय रामकृष्ण परमहंस देव की जय! जय स्वामी विवेकानन्द की जय!" यात्रीगण भी उनके कण्ठस्वर में अपना कण्ठ मिलाते हुए जयध्वनि करने लगे। समवेत जयध्वनि से वायुमण्डल-आकाश सब मुखरित हो उठा।

गैरिक वस्त्र धारण किये एक दिव्य-कान्ति संन्यासी घाट पर खड़े थे। स्टीमर से उतरकर सभी यात्री बारी-बारी से संन्यासी को प्रणाम कर रहे थे। वे कहते – "जय रामकृष्ण!" मेरे प्रणाम करने पर भी उन्होंने वही बात कही –"जय रामकृष्ण!" इसके बाद वे संन्यासी हाथ उठाकर नाचते हुए कहने लगे –"जय रामकृष्ण परमहंसदेव की जय।" हम लोगों ने भी उनके साथ रामकृष्ण नाम की जयध्वनि की। तभी खोल-करताल बजाते हुए लोगों का एक दल आया और उन संन्यासी को घेरकर जयध्वनि करते हुए नाचने लगा। मैं इन दिव्य-कान्ति ज्योतिर्मय संन्यासी की ओर देखता रहा और मेरा मन भक्ति से पूर्ण हो उठा। एक व्यक्ति से पूछने पर पता चला कि ये स्वामी प्रेमानन्द हैं – भगवान श्रीरामकृष्ण देव के साक्षात् शिष्य और स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई! स्वामी प्रेमानन्द के प्रेमपूर्ण हाव-भाव से मेरे मन का प्रेम भी जाग उठा। मैंने मन-ही-मन कहा – "स्वामी प्रेमानन्द! आपका प्रेमानन्द नाम सार्थक है। आप मुक्तहस्त से सबको प्रेम बाँट रहे हैं। इस प्रेम-समुद्र के तरंग में मेरा मन भी गोते खा रहा है, आपके प्रेम-समुद्र में अवगाहन करके आज मैं पवित्र हो गया – धन्य हो गया।"

मैं मन्दिर में भगवान श्रीरामकृष्ण देव को देखने चला। रास्ते के एक किनारे एक व्यक्ति फूल-बताशे बेच रहा था। मैंने भी एक पैसे का फूल-बताशा खरीद लिया। मन्दिर (पुराने-मन्दिर) में वही फूल-बताशे ठाकुर को निवेदित करके मैंने उन्हें प्रणाम किया। मन्दिर से बाहर निकलकर घूम-घूमकर मैं देखने लगा कि कहाँ क्या हो रहा है।

दिन के ११ बज गये। पिछली रात मैंने पाँच पैसे के मुरमुरे-बताशे खाकर पानी पीया था, उसके बाद से अभी तक कुछ खाया नहीं था। इतनी देर तक एक खुमारी में रहने के कारण भूख का ख्याल ही नहीं रहा था। लेकिन अब जोरों की भूख लग आयी थी। पिछली रात वृद्ध सज्जन ने कहा था कि बेलूड़ मठ में प्रसाद मिलेगा। उसी प्रसाद की खोजबीन करते करते मैंने देखा एक जगह एक युवक सकोरों में प्रसाद बाँट रहे हैं। वहाँ जाने पर उन्होंने मुझे भी एक सकोरा प्रसाद दिया। उसमें थोड़ी-सी खिचड़ी, दो पूरियाँ और हलुआ था। इस थोड़े से प्रसाद से मेरी भूख नहीं मिटी। मैं ठहरा पूर्वी बंगाल का आदमी! इधर के लोगों की तुलना में मैं थोड़ा अधिक खाता हूँ और कल रात से मेरे पेट में कुछ नहीं गया था, अत: एक सकोरा प्रसाद मेरे लिए तो ऊँट के मुख में जीरा साबित हुआ। इसलिए मैंने एक सकोरा और लिया। लेकिन इससे भी मेरा कुछ नहीं हुआ। जब मैं तीसरी बार सकोरा लेने गया, तो एक संन्यासी ने कहा – "महाशय! आप कैसे आदमी हैं? दो-दो बार प्रसाद लेने के बाद फिर आये हैं। प्रसाद केवल आप अकेले के लिए नहीं – बाकी लोगों के लिए भी है।" संन्यासी की बात से मैं लज्जित हो गया, अपमान-बोध हुआ और पिछली रात के वृद्ध सज्जन पर बड़ा क्रोध भी आया। उन्हीं ने कहा था कि यथेच्छा प्रसाद मिलेगा। इसीलिए तो मैं बार-बार प्रसाद ले रहा था। यदि वे

वृद्ध सज्जन ऐसी बात नहीं कहते, तो सुबह मैं घर से खाकर ही निकलता और तब एक सकोरा प्रसाद ही मेरे लिए यथेष्ट होता। संन्यासी के मुख से ऐसी बात नहीं सुननी पड़ती और मैं उनका कोप-भाजन भी नहीं बनता। मन्दिर में जाकर ठाकुर को प्रणाम करके मैंने कहा – "ठाकुर, बड़ी आशा के साथ तुम्हारे पास आया था, लेकिन अपूर्ण आशा लेकर वापस जा रहा हूँ।" ठाकुर को इतनी उलाहना देने के बाद मैं गंगातट से पानी पीकर स्टीमर की ओर बढ़ा। रास्ते में देखा – कुछ लोग एक खजूर-वृक्ष के नीचे एक टोकरी में खिचड़ी, सब्जी, चटनी आदि लिए खा रहे हैं। वहाँ जाने पर उन लोगों ने मुझे भी शालपत्र के एक दोने में खिचड़ी, सब्जी और चटनी दी। मैंने खूब तृप्ति के साथ खाया। मैं ठाकुर को सम्बोधित करके बोला – "ठाकुर, मैंने आपको उलाहना दिया था कि मेरी आशा पूर्ण नहीं हुई। आधा-पेट खाने की ही वह मेरी अपूर्ण आशा थी, ऐसा जान तुमने मुझे भरपेट खिलाकर मेरी आशा पूर्ण कर दी। अब सोच रहा हूँ कि तुम्हें उलाहना देकर मैंने ठीक नहीं किया। तुम हमें कितना कुछ दे रहे हो – ऐसा न विचारकर स्वार्थी की तरह मैंने कह दिया कि अपूर्ण आशा लेकर वापस जा रहा हूँ। मैं अधम हूँ, मैं अकृतज्ञ हूँ, मुझे क्षमा करो ठाकुर।" इतनी बात कहकर मैंने ठाकुर के निमित्त हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। शाम को पाँच बजे स्टीमर छूटेगा, अब भी लगभग दो घण्टे का समय बचा था। एक पेड़ के नीचे चादर बिछाकर मैं सो गया। ठीक समय पर मैं स्टीमर में आ गया। लेकिन अपना मन मैं छोड़ आया बेलूड़ मठ के रामकृष्ण-वृक्ष की छाया में।

* * *

मेरी दुकान नहीं चली। उसे समेटना पड़ा। पाँच-छह दिनों बाद एक दिन सुबह उठकर हाथ मुँह धोकर बैठा-बैठा सोच रहा था कि अब जीवन-निर्वाह कैसे होगा? बड़े भाई ने कहा – "चन्द्र, तुमसे व्यापार आदि नहीं होगा। नौकरी पाने की चेष्टा करो। अब तुम्हें रखना भी मेरे लिए सम्भव नहीं है।" मैंने तो सपने में भी नहीं सोचा था कि बड़े भाई से ऐसी बातें भी सुनने को मिलेंगी। हम लोगों की गृहस्थी में बँटवारा तो हुआ नहीं था, तो भी बड़े भाई ने ऐसी बात क्यों कही? तो क्या बड़े भाई अलग हो गये हैं? मैं कुछ भी समझ नहीं सका। खाने-पहनने पर ताना सुनकर अपमान से मेरे तन-बदन में आग लग गयी। बड़े भाई के मुँह पर कुछ कहा नहीं जाता। मैं सदा से ही जिद्दी-गँवार रहा हूँ। मन-ही-मन प्रतिज्ञा की – "मुझे आज ही नौकरी चाहिए, यदि नौकरी नहीं मिली, तो कलकत्ता छोड़कर पश्चिम की ओर चला जाऊँगा, भाई का अन्न-जल अब ग्रहण नहीं करूँगा।" एक ओर तो जेठ की झुलसाती गर्मी और दूसरी ओर अपमान से मेरा सिर भी गरम था। देह पर जो कपड़े थे, उन्हीं को पहने और एक चादर लेकर मैं नौकरी की खोज में निकल पड़ा। सम्बल के रूप में जेब में केवल पाँच पैसे थे। मैं गंगा के घाट पर गया और उड़िया पण्डे से एक पैसे का तेल खरीदकर सिर और देह में लगाकर स्नान किया। बचा हुआ एक आना माँ-गंगा को देकर बोला – "आज ही यदि नौकरी मिल गयी तो ठीक है, नहीं तो रेल्वे लाइन के किनारे-किनारे जिधर भी दृष्टि ले जायेगी, पश्चिम की ओर चलता रहूँगा।" इतनी बात कहने के बाद मैं घाट की सीढ़ियों पर बैठकर सोचने लगा। पेट में सुबह से ही कुछ गया नहीं था, जोरों की भूख लग आयी थी। खरीदकर खाने को पैसे भी नहीं थे। जो था, वह तेल खरीदने और गंगाजी में चला गया। एक मोदी की दुकान से चावल की भिक्षा माँगकर पानी के साथ खा गया। भूख थोड़ी शान्त हुई। नौकरी के लिए कई दुकानों और दफ्तरों में घूमा। कहीं नौकरी नहीं मिली। अन्त में नौकरी की उम्मीद छोड़ नीमतला घाट पर जाकर बैठा। सोचने लगा – क्या करूँ! तभी याद आया कि जब मैं बेलूड़ मठ गया था, तो वहाँ सुना था कि रामकृष्ण मिशन संकट में पड़े लोगों की सहायता करता है। मैं भी तो संकटग्रस्त हूँ। मेरे पास कोई नौकरी नहीं है, हाथ में एक भी पैसा नहीं है और रहने-खाने की भी कोई व्यवस्था नहीं है। मैंने जो कुछ सुना था, वह यदि मिथ्या न हो, तो रामकृष्ण मिशन अवश्य मेरी कुछ व्यवस्था कर देगा। बेलूड़ मठ गया हूँ। यह भी सुना है कि बेलूड़ मठ में रामकृष्ण मिशन का मुख्यालय है। पर मैं यह नहीं जानता कि रामकृष्ण मिशन की बेलूड़ मठ के अलावा अन्य कोई शाखा भी है या नहीं। डूबते को तिनके के सहारे के समान मैंने भी श्रीरामकृष्ण को पकड़कर बचने का प्रयास किया। 'रामकृष्ण' का नाम लेकर मैं रामकृष्ण मिशन की खोज में निकल पड़ा। राहगीरों से पूछता – रामकृष्ण मिशन कहाँ है? पर कोई भी ठीक-ठीक नहीं बता सका।

पूछते हुए चला जा रहा था। तभी एक सज्जन ने कहा –"बागबाजार में रामकृष्ण मिशन की एक शाखा है। मुख्यालय बेलूड़ मठ में है।" आशा की किरण दिखी। बागबाजार पहुँचकर एक सज्जन से पूछने पर बोले – "रामकान्त बोस स्ट्रीट के बलराम-भवन में कुछ संन्यासी रहते हैं। उनसे आपको जानकारी मिल जायेगी।" रामकान्त बोस स्ट्रीट में मेरे एक सम्बन्धी रहते हैं। कहीं वे मुझे पहचान न ले, इस भय से मैं सिर पर घूँघट डालकर चला जा रहा था। उस समय दिन के करीब ११-१२ बजे होंगे। सम्बन्धी के मकान के सामने से गुजरते हुए देखा, राजेन (मेरी छोटी बहन स्नेहलता का पति राजेन्द्रलाल दास) हाथ मे कुछ लिए चला जा रहा है। राजेन की आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी है, बड़ाबाजार में मसाले की दुकान है। बलराम बोस के मकान के पास जाकर देखा, एक हिन्दीभाषी दरवान स्टूल पर बैठा

है। मैंने कहा – "मुझे संन्यासी से मिलना है।" दरवान ने हिन्दी में पूछा – "कौन साधु के पास जायेगा?" मैं तो किसी साधु को पहचानता नहीं था, किसी का नाम भी नहीं जानता था। इसलिए किसी साधु का नाम बता न सका। बोला – "किसी भी साधु का दर्शन करने से ही होगा। मेरा रूखा-सूखा चेहरा देखकर दरवान मुझे अनजान समझकर बोला – "नहीं होगा। चलो, भागो यहाँ से।" मैं तो वैसे ही बड़े-बड़े खम्भोंवाले मकानों को देखकर डरता था। और ऊपर से हाथ में लाठी लिए हिन्दीभाषी दरवान की कर्कश आवाज सुनकर लगा कि अब और आगे बढ़ना बुद्धिमत्ता नहीं होगी।

मेरी हालत देखकर एक सज्जन, जो शायद उसी मुहल्ले के थे, बोले – "आप १ नं मुखर्जी लेन[१] चले जाइये, वहाँ रामकृष्ण मिशन की शाखा – उद्बोधन कार्यालय है।" उन सज्जन के कथनानुसार थोड़ी दूर चलने के बाद मुझे एक मकान दिखा। मकान दोमंजिला था – द्वार पर लिखा था – 'उद्बोधन कार्यालय'। दरवाजे के दोनों ओर लाल सीमेंट का बरामदा है। कोई व्यक्ति दिखाई नहीं दिया, कार्यालय जानकर भी मैं भीतर घुसने का साहस नही कर पा रहा था, क्योंकि इसके पूर्व बलराम-भवन में दरवान ने मेरा जो स्वागत किया था, उसे अभी तक मैं भूला नहीं था। तभी से जो छाती धड़क रही थी, वह अभी तक थमी नहीं थी। मैं बरामदे में बैठा रहा कि शायद कोई दिखाई दे जाय। एक व्यक्ति को आते देखकर (बाद में पता चला कि उसका नाम मोहन था) मैंने पूछा – "यह रामकृष्ण मिशन का कार्यालय है क्या?" मोहन बोला – "हाँ, यह रामकृष्ण मिशन है, यहाँ माँ और संन्यासी-गण रहते हैं। आपको क्या चाहिए?" व्यक्ति अत्यन्त विनयशील था। यह उस उत्तर-भारतीय जैसा नहीं हैं, यह देखकर मैंने साहस करके पूछा – "जो यहाँ सबसे बड़े हैं, क्या मैं उनसे मिल सकता हूँ?" मुझे प्रतीक्षा करने को कहकर मोहन अन्दर चला गया। कुछ देर बाद आकर मुझसे बोला – "चलिए, माँ ने आपको लिवा आने को कहा है।" सुनकर मैं तो अवाक् रह गया। सोचने लगा – सुना था कि यहाँ संन्यासी रहते हैं। अब सुन रहा हूँ कि महिला भी रहती हैं। मैं समझ नहीं पा रहा कि रहस्य क्या है? छाती की धुकधुकी फिर बढ़ गयी। जो भी हो मोहन के साथ माँ के पास गया। प्रथम दर्शन में ही माँ मुझे अत्यन्त अपनी लगीं – दोनों नेत्र परम शान्त, मानो करुणा बरस रही हो।

मैंने माँ को प्रणाम किया। माँ ने मेरे सिर पर हाथ फेरा। पूछने लगीं – मेरा नाम क्या है, घर कहाँ है, घर में कौन कौन हैं! उनकी बातों में इतना अपनत्व था कि मुझे मंत्रमुग्ध करके उन्होंने सब कुछ जान लिया। सुबह से जो जो किया है, सब उन्हें बता दिया। सोचा था कि बड़े भाई की बात नहीं बताऊँगा, क्योंकि घर की बात तो बाहर बतायी नहीं जाती। लेकिन इन कुछ ही क्षणों में माँ तो परायी लग ही नहीं रही थीं, बल्कि अपनी माँ से भी अपनी प्रतीत हो रही थीं। अत: बड़े भाई की बात बताने में मुझे जरा भी संकोच नहीं हुआ। सब कुछ सुनकर माँ स्नेहपूर्वक मेरी ओर देखकर बोलीं – "क्या तुम सब तरह के काम कर सकते हो? मान-मर्यादा तो आड़े नहीं आयेगा?" मैं बोला – "मैं तो माँ का काम करूँगा। उसमें मान-मर्यादा का सवाल ही कहाँ है?" तब माँ ने कहा – "यहाँ कई संन्यासी लड़के और हम कई महिलाएँ रहती हैं। बाजार करने के लिए एक आदमी की जरूरत है, लेकिन नियुक्ति मेरा लड़का शरत् करेगा। तुम मोहन के साथ शरत् के पास जाओ।"

माँ के निर्देशानुसार मोहन मुझे एक स्थूलकाय साँवले वर्ण के गम्भीर संन्यासी के पास ले जाकर बोला – "महाराज, माँ ने इन सज्जन को आपके पास भेजा है और कहा है कि यदि आप उचित समझते हों, तो बाजार करने के लिए इन्हें रख सकते हैं।" महाराज ने हँसकर कहा – "मैं और क्या नियुक्त करूँगा, नियुक्ति-पत्र तो ले ही आया है।" महाराज ने मेरी ओर देखकर पूछा – "क्यों जी लड़के, तुम क्या चाहते हो?" इतने विशाल शरीर और इस प्रकार के गम्भीर मनुष्य से जैसी गम्भीर आवाज की मैंने आशा की थी, वैसा नहीं था, वह तो स्त्रियों-जैसा गला था। मैं महाराज की बात का उत्तर नहीं दे सका। उत्तर क्या देता, मैं तो विश्वास ही नहीं कर पा रहा था कि मेरी नौकरी लग गयी है। संन्यासी लोगों के साथ रहने की कल्पना इतनी जल्दी साकार हो उठेगी, मैं विश्वास ही नहीं कर पा रहा था, इसलिए किंकर्तव्यविमूढ़ रह गया। महाराज ने फिर पूछा – "तुम चुप क्यों हो?" मैं उत्तर क्या देता, तब तक मैं अपनी सहज अवस्था में नहीं लौटा था। अपनी बात की पुनरुक्ति न कर महाराज थोड़ी देर मेरी ओर देखते रहे। फिर किशोरी नामक एक व्यक्ति को बुलाकर बोले – "तुम लोगों ने कहा था न कि एक आदमी की जरूरत है, इस लड़के को सिखा-पढ़ाकर अपने काम में लगाना।" उसी दिन से मुझे माँ के चरणों में जगह मिली। जीवन में फिर कभी मैंने वे चरण नहीं छोड़े।

मुझे नौकरी मिली। महीना तय हुआ दस रुपये। मोहन को लेकर मैं रोज बाजार जाता। कुछ दिन बाजार करने के बाद महाराज ने मुझे 'उद्बोधन कार्यालय' की किताबें पैक करने और बिक्री करने के काम में लगाया।

बंगाल में उन दिनों कई स्थानों पर रामकृष्ण मिशन के आश्रमों की स्थापना हुई थी। उन मिशनों या आश्रमों में ठाकुर-स्वामीजी का उत्सव होने पर, मैं 'उद्बोधन कार्यालय' की किताबें लेकर बिक्री करने जाता। किताबें पाँचू ढोकर ले जाता। पाँचू जब नहीं आ पाता, तब मैं ही अपने कन्धों पर

* वर्तमान में मुखर्जी लेन का नाम 'उद्बोधन लेन' हो गया है।

किताबों का पैकेट ले जाता, कुली या रिक्सा नहीं करता। वैसे दूर जाना हो, तो कुछ व्यवस्था करनी पड़ती। लेकिन व्यर्थ ही मठ का पैसा खर्च नहीं करता। जितना भी बचता, वह तो मठ के ही काम आनेवाला था। इसी बीच करुणामयी माँ ने मुझे महामंत्र प्रदान किया। अब 'उद्बोधन' मेरे लिए न केवल कर्मक्षेत्र, अपितु गुरुगृह भी हो गया। गुरुगृह की नाली तक साफ करना मुझे पुण्य-कर्म लगता, इसलिए कन्धे पर किताबों का पैकेट ढोकर ले जाते समय लगता मानो मैं माँ के श्रीचरण ही कन्धे पर ले जा रहा हूँ। बाद में माँ ने जप करने के लिए अपने हाथ से शोधन करके मुझे एक रुद्राक्ष की माला दिया। उसी माला पर मैं नित्य जप करता हूँ।

मैं माँ के कई छोटे-मोटे काम भी करता। मैं कभी भी माँ के पास जा सकता था। उनके पास जाने में मुझे किसी प्रकार का संकोच नहीं लगता। माँ भी मेरे साथ नि:संकोच बातें करतीं। माँ का मुझ पर बड़ा स्नेह था। आवश्यकता होने पर माँ जब भी मुझे कुछ कहतीं, उसका पालन करके मुझे बड़ा आनन्द होता, स्वयं को कृतार्थ महसूस करता। माँ मुझे स्नेह से चन्दू कहकर सम्बोधित करती थीं। एक दिन माँ बोलीं – "चन्दू, जानते हो क्यों मैं तुमसे काम लेती हूँ? जब मैं नहीं रहूँगी, तब ये ही सब बातें याद करके तुम्हें शान्ति मिलेगी।" एक दिन बातों-ही-बातों में उन्होंने कहा – "मेरी सन्तानों का दुबारा जन्म नहीं होगा। तुम्हारा भी फिर से जन्म नहीं होगा, यही तुम्हारा अन्तिम जन्म है।"

यह सुनकर मैं कुछ कह न सका, कृतज्ञता जताने को भी मेरे पास शब्द नहीं थे। केवल नेत्रों से आँसू झरते रहे। नीचे उतरते समय मैंने देखा सीढ़ी के नीचे शरत् महाराज खड़े हैं। हम लोगों की दृष्टि मिली – उनके नेत्रों में कौतुक की हँसी थी। महाराज बोले – "क्यों रे, सोलह आने काम हो गया! जिनकी कृपा पाने के लिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर दिन-रात कितनी तपस्या करते हैं, तूने उनका दो-एक काम करके उद्देश्य सिद्ध कर लिया। जा, अब चिन्ता क्या है, अब नाच-नाचकर आनन्द मना।" मैं क्या कहता! आनन्द के आह्लाद से मैं तब भी मूक था। केवल नेत्रों से अश्रु बहे जा रहे थे।

जेठ का महीना था। ऐसी गर्मी पड़ रही थी कि आम-कटहल तक पक जायँ। एक दिन मैं कुर्ता उतारे किताबें पैक कर रहा था। मेरे कन्धे पर घाव हो गया था। सूचना आयी - माँ बुला रही हैं। मैं वैसे ही – बिना-कुर्ते के ही माँ के पास गया! कुछ कहने के लिए माँ ने ज्योंही चेहरा ऊपर उठाया, मेरे कन्धे का घाव देखकर उन्होंने पूछा – "चन्दू, तेरे कन्धे में घाव कैसे हुआ?" मैं बोला – "किताबों के पैकेट कभी-कभी कन्धे पर रखकर ले जाता हूँ, लगता है उसी से रगड़ खाकर घाव हो गया है, दो-एक दिन में ही सूख जायेगा।" माँ ने पूछा – "पाँचू कहाँ है?" मैं बोला – "पाँचू कई दिन से आ नहीं रहा है।" सुनकर वे बोलीं – "कोई दूसरी व्यवस्था क्यों नहीं की?" आश्रम का पैसा बचाने की बात बताने पर वे बोलीं – "पाँचू जिस दिन न आये, उस दिन कोई अन्य व्यवस्था कर लेना।" इतना कहकर एक छोटी-सी कटोरी में थोड़ा सरसों का तेल लिए मंत्र पढ़कर देते हुए बोलीं – "इस तेल को कुछ दिन घाव की जगह लगा लेना, ठीक हो जायेगा।" कुछ दिन वह तेल लगाने के बाद घाव बिल्कुल सूख गया। फिर दुबारा नहीं हुआ।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

श्रीरामकृष्ण उवाच –

जीव का सच्चा स्वरूप

ईश्वर अनन्त हैं और जीव सान्त। भला सान्त जीव अनन्त ईश्वर की धारणा कैसे कर सकता है? यह तो मानो नमक की गुड़िया का समुद्र की गहराई नापने का-सा प्रयास है। नमक की गुड़िया समुद्र की गहराई की थाह लेने ज्योंही पानी में उतरी, त्योंही घुलकर विलीन हो गई। उसी प्रकार जीव भी ईश्वर की थाह लेने, उन्हें जानने जाकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठता है और ईश्वर के साथ एकरूप हो जाता है।

ईश्वर स्वयं ही मनुष्य के रूप में लीला करते हैं। वे बड़े जादूगर हैं – यह जीव-जगत्-रूपी इन्द्रजाल उन्हीं के जादू का खेल है। केवल जादूगर ही सत्य है और जादू मिथ्या।

मनुष्य की देह मानो एक हाँड़ी है और मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ मानो पानी, चावल और आलू। हाँड़ी में पानी, चावल और आलू छोड़कर उसे आग पर रख देने से वे तप्त हो जाते हैं और कोई अगर उन्हें हाथ लगाए तो उसका हाथ जल जाता है। वास्तव में जलाने की शक्ति हाँड़ी, पानी, चावल या आलू में से किसी में नहीं है, वह तो उस आग में है; फिर भी उनसे हाथ जलता है। इसी प्रकार मनुष्य के भीतर विद्यमान रहनेवाली ब्रह्मशक्ति के कारण ही मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, और जैसे ही इस ब्रह्मशक्ति का अभाव हो जाता है वैसे ही ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं।

एकता के संवाहक श्रीरामकृष्ण

डॉ. ओंकार सक्सेना, एम.एस., जयपुर
(भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, शल्य-चिकित्सा विभाग, सवाई मानसिह मेडिकल कॉलेज, जयपुर)

विश्वविख्यात चिन्तक नोबल पुरस्कार से अलंकृत रोमाँ रोलाँ लिखते हैं, "मैंने अपना समस्त जीवन मानव जाति के मेल-मिलाप को समर्पित कर दिया है।" अपने सपनों के महल का निर्माण करने के लिए उन्होंने भारत की राष्ट्रव्यापी आध्यात्मिकता की ठोस चट्टान को चुना था, "इस सम्पूर्ण (१९वीं) शताब्दी के दौरान भारत की पुण्यभूमि में बहुत-से अग्निगर्भ तेजस्वी महापुरुषों का जन्म हुआ है। अजस्र मानवता-मूलक विचारों की जाह्नवी-धारा का अभ्युदय भी होता रहा। उनमें और चाहे जो भी विभिन्नता व मतभेद रहे हों, पर उनका लक्ष्य एक ही रहा है और वह भगवान की भक्ति के रूप में मानवता का मिलन है।" श्रीरामकृष्ण ने कहा है, "भक्तों की जाति नही होती।" उनके ये शब्द जीवन्त हैं, क्योंकि उनमें विश्व की समस्त सत्ता को अपना बना लेने की शक्ति थी। एकता के निर्माताओ में श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द को रोमाँ रोलाँ ने, "अपनी स्वतंत्र विचार बुद्धि से मोजार्त (आस्ट्रिया के संगीत शिरोमणि) तथा बिथोवन (महान् जर्मन संगीतज्ञ) की उपमा दी है। उनका विचार है कि विश्व-स्वर संगीत को पैदा करनेवाला वाद्य-संगीत अतीत व वर्तमान की शताब्दियों के मिश्रण से बनता है। इस संगीत में अतीत व वर्तमान सभी शताब्दियों की झंकार एक साथ ही बजती है। यद्यपि प्रत्येक वादक की दृष्टि अपनी-अपनी स्थिति तथा निर्देशक के दण्ड पर रहती है, प्रत्येक वादक अपने यंत्र के सिवाय और किसी की ध्वनि नहीं सुनता है। यह निर्देशक कौन है? एकमात्र सत्ता जो अनादि और अनन्त है। इस वाद्य-संगीत के वादक हैं विभिन्न देवमानव तथा प्रतिभावान व्यक्ति, जिन्होंने भारत के पूर्वी क्षितिज से यह मधुर संगीत प्रवाहित कर आनन्दोत्सव का उद्घाटन किया है।"

पाँच सौ वर्ष पूर्व चैतन्य महाप्रभु ने इन्द्रियातीत अनुभूति पर आधारित प्रेमोन्माद को एक नवीन सन्देश के रूप में प्रसारित किया था। रोमाँ रोलाँ का मन्तव्य है, "समस्त धर्म और समस्त जातियों के नर-नारियो के लिए इस प्रेम-सन्देश का द्वार खुला था, वे सब भाई के समान थे, यहाँ तक कि जिन लोगों की कोई जाति न थी उनके लिए भी यह वाणी अव्याहत थी। हिन्दू, मुसलमान, अस्पृश्य, भिक्षुक, तस्कर, गणिका सब एक साथ ही उनकी यह दिव्य वाणी सुनने के लिए आते थे और सभी उससे मुग्ध होकर व शक्ति ग्रहण करके जाते थे।" वैष्णव समुदाय के सुमधुर भक्ति-संगीत के स्वरों से यह मार्ग अब भी गूँजता रहता है।

राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) ने सार्वभौम-धर्म की कल्पना की थी, जिसे उनके अनुयायियों ने आगे चलकर विश्व-धर्म की संज्ञा दी। उनके ब्राह्मसमाज-मन्दिर के द्वार वर्ण-जाति, देश-धर्म के भेदभाव से परे, उस प्रत्येक मनुष्य के लिए खुले थे, जो किसी भी धर्म की निन्दा, उपहास तथा अवहेलना न करता हो। राममोहन राय "सब धर्मों तथा सभी विश्वासों के मनुष्यों में उदारता, दया-करुणा और नैतिकता को उद्बुद्ध करके उनके पारस्परिक मिलन को दृढ़ और शक्तिशाली बनाना चाहते थे।" २७ सितम्बर, १८३३ ई. को मस्तिष्क ज्वर से ब्रिस्टल (इंग्लैंड) में उनकी मृत्यु हुई थी। वहीं उनकी समाधि है, जिस पर लिखा है, "परमात्मा के एकत्व में दृढ़ विश्वास रखनेवाला एक सच्चा व्यक्ति, जिसने अपना सारा जीवन पूर्ण श्रद्धा के साथ केवल मानव-एकता की उपासना में व्यतीत किया।" राजा राममोहन राय के उदात्त मन में विभिन्न मतों के अद्वितीय समन्वय ने सामाजिक चेतना को एक नया मोड़ दिया था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५) कट्टरपन्थी परम्पराओं में पले थे, परन्तु जिस प्रकार राजा राममोहन राय पर इस्लामी प्रभाव था, उसी प्रकार इनका भी मुसलमानों से गहन सम्पर्क रहा था। वे मूर्तिपूजा के शत्रु थे, उदार भी थे, जैसा कि शान्ति-निकेतन के द्वार पर अंकित इन शब्दों से प्रकट होता है, "यहाँ पर किसी मूर्ति की पूजा नहीं की जाती ... और न किसी मनुष्य के धर्म को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।" जीवन-प्रवाह के उत्तरार्द्ध में वे अन्त:प्रेरणा को निर्भ्रान्त सत्य मानने लगे थे। उन्होंने अपनी 'ब्राह्म-धर्म' नामक पुस्तक के बारे में लिखा है, "यह ईश्वरीय सत्य है जो मेरे हृदय में प्रविष्ट हुआ है। यह जीवित सत्य मेरे हृदय में उस (परमात्मा) से आया है, जो जीवन है, प्रकाश है और सत्य है।" रोमाँ रोलाँ चुटकी लेते हैं, "देवेन्द्रनाथ का हृदय ब्राह्म-समाज के द्वारा मनुष्य जाति की एकता सम्पादित करने के महान् आदर्श के लिए चाहे जितना भी उदार क्यों न रहा हो, परन्तु वे भारतीय परम्परा और धार्मिक ग्रन्थों के प्रति बड़े अनुरक्त थे।" परन्तु महर्षि के उत्तराधिकारी केशवचन्द्र सेन ने आगे चलकर यह स्पष्ट कर दिया था कि "ब्राह्म समाज का असली उद्देश्य विभिन्न धर्मों में संगति स्थापित करना है।" और पाल ने देवेन्द्रनाथ की मनोव्यथा का निराकरण इन शब्दों में किया था, "किसी भी प्रकार की विचारधारा को हावी हो जाने से बचाना भी

समन्वय को घोषित करता है। इस बात को दृष्टि से ओझल न होने देना ही देवन्द्रनाथ का योगदान था। देवेन्द्रनाथ और ब्राह्म-समाज को एक ओर कट्टर हिन्दुओं से और दूसरी ओर हावी होते ईसाइयों से संघर्ष करना पड़ा था।''

केशवचन्द्र सेन (१८३८-१८८४) मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे थे। एक अंग्रेजी स्कूल में उनका पालन-पोषण हुआ था। दोहरा जीवन व्यतीत करते-करते उनमें मौलिक द्वैत आ गया था। पूर्व-पश्चिम के परस्पर विरोधी विचारों का समावेश, ईसा-केन्द्रीयता में मानव-केन्द्रीयता का समावेश कराने की अतुल चाह, श्रीरामकृष्ण से राजयोग तथा पादरी ल्यूक रिविंग्टन से ईसाई धर्म की शिक्षा, ईसा को स्वीकार करना परन्तु अपने को ईसाई न मानना – इन्हीं कारणों से यूरोप के मनीषियों ने उन्हें, 'पश्चिम का आध्यात्मिक सहयोगी और पूर्व में ईसा का सन्देशवाहक' कहकर यूरोप में उनका स्वागत किया था। राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए केशवचन्द्र धर्म को आवश्यक मानते थे। वे इसे सामाजिक सुधारों का आधार बनाकर दैनिक जीवन में प्रतिस्थापित करना चाहते थे। उनका कहना था, ''सब आत्माओं को सामाजिक भावना के सूत्र में बँध जाने दो और जन-साधारण के साथ, दृश्यमान समाज के साथ अपनी एकता अनुभव करने दो।'' तो भी वे आम जनता को प्रभावित नहीं कर सके थे, क्योंकि उनमें भारतीय विचार तत्वों का समावेश कम था। उनके अन्तिम तथा जीवन्त सन्देश में अद्वैतवाद की छाया झलकती है, ''यूरोप ने ईसा की आधी वाणी को भी नहीं समझा है। उसने यह समझा है कि ईसा और परमात्मा एक हैं, परन्तु यह नहीं समझा है कि ईसा और मानवता भी एक है। (प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है) यह एक महान् रहस्य है, जिसे नव-विधान विश्व के समक्ष प्रकट करता है, मात्र ईश्वर के साथ पुनर्मिलन को ही नहीं, अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य के पुनर्मिलन को भी।'' एशिया यूरोप से कहता है, 'भाई, ईसा में एक हो जाओ। जो कुछ सत्य एवं सुन्दर है – हिन्दू की विनयशीलता, मुसलमानों की सत्यता, बौद्धों का त्याग और तितिक्षा .... – जो कुछ पवित्र है, वह सब ईसा का ही है।'' रोमाँ रोलाँ लिखते है, ''विशेषत: जबकि वे यह चाहते थे कि उनका नियम-विधान सर्वग्राही हो और उसमें ईसा और ब्रह्म, बाइबिल और योग, धर्म और तर्क सभी का समावेश हो। श्रीरामकृष्ण बड़े सरल तरीके से अपने हृदय के अन्दर से ही उस स्थितिं में पहुँच गये थे और उन्होंने अपनी खोज को किन्हीं सिद्धान्तों व आदेशों के सीमित शरीर में आबद्ध नहीं किया था। वे पथ दिखाकर, उदाहरण उपस्थित करके और प्रोत्साहन देकर ही सन्तुष्ट थे। पर केशव ने एक ओर तुलनात्मक धर्म-अध्ययन-विद्यालय के अधिष्ठाता, बुद्धिवादी यूरोपियन विद्वान् के उपायों और दूसरी तरफ भारत और अमेरिका के भगवत्प्रेरित व्यक्तियों के उपायों, अश्रुविगलित भक्ति, प्रचार भ्रमण एवं स्वीकारोक्तियों का आश्रय लिया था।''

महर्षि दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) के जीवन का आदर्श था – कर्म और राष्ट्रीयता। वे राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जन्म तथा पुनर्जागरण के सशक्त प्रतीक थे। उनका विशुद्ध भारतीय आर्यसमाज स्त्री-पुरुषों के समान अधिकार के साथ, सब राष्ट्रों व जातियों के लिए समता के उच्च व श्रेष्ठ सिद्धान्तों को स्थापित करता है। रोमाँ रोलाँ लिखते हैं, ''यदि विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में न आये होते और उनके अत्यन्त दयालु गुरुदेव ने उनकी कुलीनता तथा विशुद्धाचरण के अहंकार को अपनी स्नेहमयी करुणा एवं अगाध बुद्धिमत्ता से दमन न कर दिया होता, तो विवेकानन्द की जो अवस्था होती, वास्तव में वही दयानन्द की अवस्था थी।'' १५ दिसम्बर, १८७२ से चार माह के कलकत्ता-प्रवास के दौरान दयानन्द ब्राह्म-समाज के केशवचन्द्र सेन एवं श्रीरामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आकर समृद्धतर हो गये थे। इन्हीं दिनों उन्हें यह बोध हुआ कि जनसाधारण की भाषा में प्रचार किए बिना वे अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते। इससे पहले वे केवल संस्कृत में ही बातें करते थे।

इस युग में ऐक्यबोध की पूर्ति श्रीरामकृष्ण देव (१८३६-१८८६) के जीवन-दृष्टान्त के पुनरुद्भव में हुई है। उन्होंने कहा – ''मैने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी धर्मो का अनुशीलन किया है, हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न पन्थों का भी अनुसरण किया है। ... मैने देखा है कि सबके कदम उन्हीं एक भगवान की तरफ ही बढ़ रहे हैं, यद्यपि उनके पथ भिन्न-भिन्न हैं। तुम्हें एक बार प्रत्येक धर्ममत की परीक्षा तथा भिन्न-भिन्न पन्थों का पर्यटन करना चाहिए।'' आगे चलकर ईश्वर की खोज की पराकाष्ठा को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया, ''तुम भगवान को ढूँढ़ते हो? ठीक है, तो मनुष्य के भीतर उनकी खोज करो। भगवान जिस प्रकार मनुष्य के भीतर स्वयं को प्रकट करते हैं, उस प्रकार अन्य किसी पदार्थ में नहीं करते। वस्तुत: भगवान सभी वस्तुओं में रहते हैं, परन्तु अन्य पदार्थो में उनकी शक्ति का प्रकाश कमो-वेश विद्यमान है। मनुष्य के अन्दर प्रकट होकर भगवान ने रक्त-मांस में अपनी शक्ति का सबसे अधिक प्रकाश किया है। .... मनुष्य भगवान की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है।'' ❑❑❑

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे है। – सं.)

– २९ –

सिद्धियों की निरर्थकता

दो भाई थे। बड़े भाई के मन में सहसा वैराग्य का उदय हुआ। उसने अपने घरवालों से कहा, "संसार मुझे अच्छा नही लगता। अब मैं किसी निर्जन स्थान में जाकर साधना करूँगा।" घरवालों ने उसके इस शुभ संकल्प का समर्थन किया। वह तत्काल घर-द्वार छोड़कर चल दिया। दूर जाकर उसने संन्यास धारण किया और एक निर्जन स्थान में आसन जमाकर घोर तपस्या में डूब गया। इधर छोटे भाई ने भलीभाँति पढ़ाई-लिखाई की और विवाह करके संसार-धर्म का निर्वाह करने लगा।

संन्यासियों का नियम है कि बारह वर्ष के बाद, इच्छा होने पर वे एक बार अपनी जन्मभूमि का दर्शन करने जाया करते हैं। वह तपस्वी-संन्यासी भी बारह वर्ष के बाद अपनी जन्मभूमि का दर्शन करने आया।

अपने छोटे भाई की जमीन-जायदाद, खेती-बाड़ी, धन-सम्पत्ति को देखता हुआ वह उसके दरवाजे पर पहुँच गया और उसका नाम लेकर पुकारने लगा। नाम सुनते ही छोटा भाई बाहर आया। उसने देखा – संन्यासी के वेश में बड़े भाई खड़े है। बहुत दिनों के बाद उनके दर्शन हुए थे, अत: छोटे भाई के आनन्द की सीमा न रही। उसने बड़े भाई को प्रणाम किया तथा घर के भीतर ले जाकर उनकी सेवा करने लगा।

भोजन करने के बाद दोनों भाइयों में कई तरह की चर्चाएँ होने लगीं। उस दौरान छोटे भाई ने पूछा, "भैया, आप संसार के सारे सुख-भोगों को त्यागकर इतने दिन तपस्या करते रहे, अच्छा, यह बताइये कि आपको क्या उपलब्धियाँ हुई हैं?"

बड़े भाई ने उत्तर दिया, "यदि तू देखना चाहता है, तो मेरे साथ बाहर चल।" वह अपने छोटे भाई को साथ लेकर घर के समीप नदी के तट पर गया और – "यह देख" – कहकर वह नदी के पानी पर पैदल चलता हुआ उस पार जा पहुँचा और वही से बोला, "देख लिया न!"

छोटा भाई भी तत्काल घाट के मल्लाह को दो पैसे देकर नाव में नदी के उस पार जा पहुँचा। वहाँ उतरकर उसने बड़े भाई से पूछा , "किस बात के लिए आपने 'देख लिया न' कहा?" बड़ा भाई बोला, "क्यों? पानी के ऊपर चलकर मेरा पैदल नदी पार करना नहीं देखा?" इस पर छोटा भाई हँसने लगा, बोला, "भैया, आपने भी तो देखा कि मैंने भी दो पैसे देकर नदी को पार कर लिया। अब आप यह बताइये कि बारह वर्ष तक निर्जन में इतना कष्ट उठाकर आपने क्या बस इतना ही प्राप्त किया है! दो पैसे में मेरा जो काम हो जाता है, क्या आपने केवल उतना ही प्राप्त किया है! आपकी इस विद्या का मूल्य तो केवल दो पैसे है।"

छोटे भाई की इस बात को सुनकर तब कही बड़े भाई को चेत आया और इसके बाद उसने पुन: निर्जन में जाकर अपना पूरा मन-प्राण ईश्वर-प्राप्ति की साधना में लगा दिया।

इस कथा के द्वारा श्रीरामकृष्ण समझाया करते थे कि साधना के द्वारा इस प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करना अत्यन्त तुच्छ, हेय तथा नगण्य है। सिद्धियों की कामना रहने पर ईश्वर नहीं मिलते। और सिद्धियाँ मिल जायँ, तो अहंकार में वृद्धि होती है और अहंकार ईश्वर-प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक है। अहंकार उस ऊँची जमीन के समान है, वहाँ बरसात का पानी नहीं ठहरता, बह जाता है। नीची जमीन में पानी जमता है, अंकुर उगते है। फिर पेड़ होते हैं और फल लगते हैं।

कृष्ण ने अर्जुन से कहा था – भाई; मुझे अगर पाना चाहते हो, तो समझ लो कि आठ सिद्धियो में एक भी सिद्धि के रहते मैं नही मिलता।

एक अन्य कथा के द्वारा भी श्रीरामकृष्ण सिद्धियों की नि:सारता समझाया करते थे –

घोर तपस्या करते हुए एक योगी को वाक्-सिद्धि प्राप्त हो गयी। वे मुख से जो कुछ भी कह देते, वह तत्काल फलीभूत हो जाता। वे अपनी वाणी के प्रयोग मात्र से किसी को मार सकते थे और उसे फिर जिला सकते थे।

एक दिन वे कहीं जा रहे थे। चलते हुए थोड़ी थकान महसूस होने के कारण नदी के किनारे कुछ वृक्ष तथा एक मन्दिर देखकर वे अपनी प्यास मिटाने के लिए वहाँ थोड़ा रुके। पानी पीने के बाद थोड़ा विश्राम करके वे मन्दिर के आसपास घूमने लगे। उन्होंने देखा कि नदी के तट पर एक वृक्ष की छाया में एक भक्त-साधु बैठे हुए है और ईश्वर के नामजप तथा ध्यान में तल्लीन है। यह भी पता चला कि ये साधु वहाँ कई वर्षों से तपस्या कर रहे है।

सब कुछ जान लेने के बाद योगी उन साधु के पास जा पहुँचे और पूछा, "अच्छा भाई, इतने दिनों से तुम जो भगवान का नाम ले रहे हो, जरा बताओ तो – इससे तुम्हें क्या प्राप्त हुआ?" साधु बोले, "पाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। ईश्वर-प्राप्ति के अतिरिक्त मेरी अन्य कोई इच्छा नहीं है। और उनकी प्राप्ति भी उनकी कृपा के बिना तो होती नहीं,

इसलिए पड़े-पड़े उन्हीं को पुकार रहा हूँ, सम्भव है दीन-हीन समझकर किसी दिन वे मुझ पर कृपा करें।''

इस पर योगी बोले, ''यदि कुछ प्राप्ति ही नहीं हुई है, तो फिर व्यर्थ इतना परिश्रम करने की क्या जरूरत? प्रयास उसके लिए करो, जो मिल सके।'' साधु थोड़ी देर चुप रहकर बोले, ''अच्छा महाराज, आप ही बताइये कि आपको क्या मिला?'' योगी ने कहा, ''सुनना क्या है – दिखा ही देता हूँ।'' पास के एक वृक्ष के नीचे एक हाथी बँधा हुआ था। योगी ने एक चुटकी धूल उठायी और एक मंत्र पढ़ते हुए उसे हाथी की ओर फेंकते हुए कहा, ''ऐ हाथी, तू मर जा।'' हाथी तत्काल ही मरकर गिर पड़ा। दम्भ के साथ योगी बोले, ''देखा न ! अच्छा, और भी देखो।'' इसके बाद उन्होंने वैसे ही फिर एक चुटकी मंत्रसिद्ध धूल मरे हुए हाथी की ओर फेंकते हुए कहा, ''ऐ हाथी, तू जीवित हो जा।'' बस, वह हाथी फिर पूर्ववत् खड़ा होकर अपना चारा आदि खाने लगा। योगी बोले, ''कहो भाई, तुमने देख लिया न !''

साधु अब तक चुपचाप बैठे थे, बोले, ''इसमें देखने का क्या था – हाथी एक बार मर गया और फिर दुबारा जीवित हो गया; लेकिन जरा बताइये कि हाथी के इस प्रकार मरने-जीने से आपको क्या प्राप्त हुआ? इस शक्ति के द्वारा क्या आप जरा-व्याधि से छुटकारा पा चुके हैं? जन्म-मृत्यु के हाथों से मुक्त हो चुके हैं? या फिर क्या आपको अपने अखण्ड सच्चिदानन्द-स्वरूप के दर्शन प्राप्त हुए हैं?''

ये बातें सुनकर योगी गहरे चिन्तन में डूब गये। उनकी समझ में आ गया कि यह अलौकिक शक्ति केवल अहंकार में वृद्धि करनेवाली है और वे निर्जन में जाकर अपनी चरम लक्ष्य की प्राप्ति की साधना में डूब गये।

– ३० –

आत्मज्ञान की परीक्षा

एक पिता के दो पुत्र थे। पिता ने उन्हें ब्रह्मविद्या सीखने के लिए आचार्य को सौंपा। कुछ वर्षों के बाद दोनों गुरुगृह से घर लौटे और आते ही सर्वप्रथम पिता को प्रणाम किया। पिता की इच्छा हुई कि जरा परीक्षा करके देखें कि इन्हें कैसा ब्रह्मज्ञान हुआ है। उन्होंने बड़े बेटे से पूछा – ''बेटा, तुमने तो सब कुछ पढ़ लिया है, बताओ तो – ब्रह्म कैसा है?'' वह पुत्र वेदों के अनेक श्लोकों की आवृत्ति करते हुए ब्रह्म का स्वरूप समझाने लगा। पिता ने मौन रहकर सब सुना। इसके बाद उन्होंने वही प्रश्न छोटे बेटे से पूछा। वह चुपचाप सिर झुकाए रहा, मुँह से कोई शब्द ही नहीं निकला। पिता ने प्रसन्न होकर छोटे से कहा, ''बेटा, तुम्हीं ने कुछ समझा है। ब्रह्म क्या है – मुँह से नहीं कहा जा सकता।''

श्रीरामकृष्ण बताते हैं – ब्रह्म क्या है यह मुख से कहा नहीं जा सकता। वेद, तन्त्र, पुराण आदि सभी शास्त्र जूठे हो चुके हैं, क्योंकि उनका मुख से उच्चारण किया गया है, उन्हें पढ़ा गया है। केवल एक वस्तु जूठी नहीं हो पाई, वह है ब्रह्म। ब्रह्म क्या है, यह आज तक कोई बता नहीं पाया।

ब्रह्म भले-बुरे दोनों से निर्लिप्त है। वह दीपक की ज्योति की तरह है। दीपक के प्रकाश में कोई भागवत पढ़ता है, तो कोई जाली नोट बनाता है, पर दीपक निर्लिप्त रहता है। ब्रह्म मानो साँप के जैसा है। साँप के दाँतों में विष होता है, उसके काटने पर दूसरे लोग मर जाते हैं, पर उससे स्वयं साँप को कुछ नहीं होता। इसी तरह, जगत् में दुःख, पाप, अशान्ति आदि जो कुछ है, वह सब जीव के लिए है। ब्रह्म इन सबसे निर्लिप्त है। भला, बुरा, सत्, असत् सब जीव के लिए है, ब्रह्म के लिए यह सब कुछ भी नहीं, वह इन सबके परे है।

– ३१ –

नारी अबला है या सबला

एक पण्डित जी के शिष्य की कपड़े की दुकान थी। एक बार उन्हें पोथी-पत्रा बाँधने हेतु एक वस्त्र-खण्ड की जरूरत पड़ी। उन्होंने अपने शिष्य की दुकान में आकर अपनी जरूरत बताई। शिष्य बोला, ''अरे महाराज, पहले क्यों नहीं बताया ! एक टुकड़ा बचा था, पर अभी कुछ ही दिन पूर्व मैंने किसी को दे दिया। खैर, अब की बार कोई टुकड़ा बचा, तो आपके लिए रख दूँगा। बीच-बीच में आकर खबर लेते रहियेगा।'' गुरुजी उसकी बात मानकर जाने लगे। इधर शिष्य-पत्नी घर के भीतर से सब देख रही थी। उसने आदमी भेजकर गुरुजी को अन्दर बुलवा लिया। शिष्य की पत्नी ने पूछा, ''महाराज, आप बाबू से क्या माँग रहे थे?'' गुरुजी ने सब बताया। तब शिष्य-पत्नी बोली, ''ठीक है, आप जाइए, कल ही आपके यहाँ कपड़ा भिजवा दूँगी।'' गुरुजी लौट गये। दुकान बन्द करके रात को घर लौटने पर पत्नी ने उससे पूछा, ''क्या तुम दुकान बन्द करके आए हो?'' वह बोला, ''हाँ, क्यों क्या बात है?'' पत्नी बोली, ''अभी जाकर मेरे लिए अच्छे वस्त्र के दो टुकड़े ले आओ।'' शिष्य कहने लगा, ''ऐसी भी क्या जल्दी है? कल ही तुम्हें दो बहुत अच्छे वस्त्र-खण्ड ला दूँगा।'' पत्नी बोली, ''नहीं नहीं, अभी चाहिए !' बेचारा पति मरता क्या न करता। यह तो गुरु का नहीं, बल्कि गुरु के भी गुरु – महागुरु का हुक्म था। इसकी बात तो टाली नहीं जा सकती थी। निरुपाय होकर उसने रात को फिर दुकान खोली और दो टुकड़े वस्त्र ले आया। दूसरे दिन सबेरे ही शिष्य-पत्नी ने किसी के हाथ उन वस्त्रों को गुरुजी के यहाँ भिजवाते हुए कहला भेजा, ''अब से आपको जो कुछ लगे, तो उसके लिए आप मुझसे कहा कीजिएगा।'' ❖ (क्रमशः) ❖

प्राच्य विद्या और पाश्चात्य विद्वान्

डॉ. महेशचन्द्र शर्मा, भिलाई

'संस्कृत' मात्र भाषावाचक शब्द नहीं है। यह भारत का पर्याय है। भारतीय प्रतिभा जिस भाषा में निबद्ध है, उसे यह गौरवास्पद 'सम्बोधन' दिया गया है। अमेरिका और यूरोप में यह चिन्तन 'इण्डोलॉजी' के नाम से विख्यात है। इसलिये अपनी समस्त वैदिक मनीषा, प्राचीन ज्ञानराशि तथा मध्यकालीन प्रतिभा के लिये हमने 'इण्डोलॉजी' शब्द के समानार्थी के रूप में 'भारतविद्या' कहना तथा लिखना उचित माना। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस महती ज्ञानराशि को समर्पित व्यापक शोधकार्य का श्रेय भी पाश्चात्य जगत् को मिलता रहा है। हम अपनी उर्वर भूमि को भी जोतते नहीं। विदेशी विद्वान् इस क्षेत्र में घोर परिश्रम करके मूल्यवान फसल को काटकर ले जाते रहे। परन्तु अब यह धारणा बलवती तथा फलवती होती जा रही है कि हम भारतीयों को भी इस क्षेत्र में कुछ फलप्रद प्रयास करने होंगे। भारतविद्या-व्यसनी श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर को हम इस दिशा में बढ़नेवाला प्रथम व्यक्ति मान सकते हैं। उनके प्रयास से उनके ८०वें जन्मदिन पर (६ जुलाई, १९१७ को) पुणे में भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध-केन्द्र (भण्डारकर ओरियेंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट) की स्थापना हुई। यह संस्था केवल पुणे तक ही सीमित नहीं है, बल्कि भारत और समूचे विश्व के भारतविद्या-प्रेमियों का एक विश्वमंच है। पेरिस में १८७३ में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या परिषद् के अधिवेशन में इस महत्कार्य हेतु एक सत्प्रेरणा पैदा की गई और १९१९ के नवम्बर में पुणे में डॉ. भण्डारकर की अध्यक्षता में इसका प्रथम अधिवेशन भी हुआ। १८७४ में जब लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या परिषद् का द्वितीय अधिवेशन हुआ था, तब आचार्य मैक्समूलर ने विद्वान् शोधकर्ताओं के इस सम्मिलन तथा शास्त्र-चर्चाओं को विश्व-सम्मेलनों की एक महती उपलब्धि के रूप में निरूपित किया था।

४२ वर्ष तक इस संस्था के मुख्य-सचिव रहे विश्वविख्यात संस्कृत विद्वान् डॉ. रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर की मान्यता है कि हमने 'प्राच्य' (ओरियेंटल) शब्द के अर्थ को संकुचित कर दिया है। विश्व प्राच्यविद्या परिषद् के कार्यक्रमों में इसका व्यापक रूप दिखाई देता है। विश्वस्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय शोध-कर्त्ताओं ने भारत, एशिया तथा अफ्रीका में फैली इन विद्याओं को पाँच विभागों में बाँटा है। 'इ-कॉ-ना-स' अर्थात् 'इंटरनेशनल कॉंग्रेस फॉर एशियन एण्ड नॉर्थ अफ्रीकन स्टडीज' इन सभी विभागों पर काम करनेवाली एक अच्छी संस्था है। परन्तु भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् का कार्य इस दिशा में सन्तोषजनक नही कहा जा सकता। केवल भारतविद्या ही प्राच्यविद्या है या प्राच्यविद्या ही भारतविद्या है – यह धारणा बदलनी चाहिए। 'इ-कॉ-ना-स' का ३६वाँ अधिवेशन मांट्रियल में हुआ।

पाश्चात्य जगत् को संस्कृत भाषा की सूचना के पश्चात् ही 'भारतविद्या' के रूप में एक नवीन ज्ञानशाखा अस्तित्व में आयी। १८वीं शताब्दी के अन्तिम दो-तीन दशकों के दौरान अंग्रेजी में अनेक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित तथा प्रसारित हुए। १७८५ में भगवद्गीता, १७८७ में हितोपदेश, १७८९ में अभिज्ञान-शाकुन्तल, १७९२ में ऋतुसंहार और १७९४ में मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के अंग्रेजी भाषान्तर छप जाने से पाश्चात्य जगत् के संस्कृत-ज्ञान-पिपासुओं के समक्ष मानो भारतविद्या स्पष्टत: प्रत्यक्ष हो गयी। १८७४ में कलकत्ते में विश्व की प्रथम एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना होना भी एक घटना थी। उक्त कार्यों के पूर्व हमारा पवित्र संस्कृत-ज्ञान कुछ सीमित 'पण्डितों' के पास कैद था। वे इसे 'दूषित' नहीं होने देना चाहते थे, इसे 'म्लेच्छों' (अंग्रजों) से दूर ही रखना चाहते थे। पर उक्त घटनाओं से पाश्चात्यों को तो एक उत्साह-वर्धक अनुभव हुआ ही, भारतीयों में भी अपनी संस्कृति के प्रति नई दृष्टि विकसित हुई। आज भारत और भारत के बाहर इसी दिशा में अनेक शोधकार्य हो रहे हैं।

१८वीं शताब्दी के पूर्व भी भारत में रहनेवाले कुछ जिज्ञासु पाश्चात्य प्रवासियों एवं मिशनरियों ने भारतविद्या के क्षेत्र में थोड़े प्रयास किये। संस्कृत और इतालवी भाषाओं में समता का अध्ययन करनेवाला फिलिपो सास्सेटी तथा पुराण-वर्णित भारतीय परम्पराओं का स्वदेशियों के कुछ विपरीत ज्ञान करानेवाला फेनिसियो – उल्लेखनीय हैं। डी. नोबोली बौद्ध साहित्य की ओर आकृष्ट होनेवाला प्रथम यूरोपीय है, जबकि दक्षिण भारतीय हिन्दू धर्म और भर्तृहरि के तीनों शतक ग्रन्थों को पाश्चात्य अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत करनेवाला भी यही व्यक्ति है। फादर पो. इसलिये एक उल्लेखनीय नाम है, क्योंकि उन्होंने लातीनी भाषा में संस्कृत व्याकरण पर बहुत कुछ लिखा तथा संस्कृत साहित्य की अनेक पाण्डुलिपियों को फ्रेंच विद्वानों को समीक्षार्थ उपलब्ध कराया। सर विलियम जोन्स ने, जो बाद में 'ओरियेंटल जोन्स' के नाम से जाने गये, जनवरी १७८६ में सम्पन्न रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के अधिवेशन में अपने तीसरे वार्षिक अभिभाषण में यह सिद्ध किया कि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, केल्टिक तथा प्राचीन फारसी आदि भाषाओं का मूल स्रोत एक ही है। यद्यपि इस घटना से २० वर्ष पूर्व फादर कुर्दू संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में लाक्षणिक समानता की बात कह

चुके थे। अंकेटी दुपेरों ने १७५४ में भारत आकर उपनिषदों के फारसी अनुवाद का लैटिन में भाषान्तरण किया। फ्रेंच इतिहासकार द गीन्य और पाण्डीचेरी के मेरी दास पिल्लै की १७६५ की मैत्री एक घटना है, जिससे निष्कर्ष निकला कि ग्रीक इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखित सान्ट्रा कोटास और कोई नही अपितु 'चन्द्रगुप्त मौर्य' ही है। पर ये कोई गम्भीर प्रयास नहीं थे। इन्हें हम एक अच्छी शुरुआत कह सकते हैं। विल्किंस और कोलब्रुक आदि ब्रिटिश विद्वान् भी सर जोन्स आदि के साथ इस दिशा में श्रीगणेश कर चुके थे।

जर्मन कवि हेर्डेर तथा डॉ. गेटे वास्तव में सच्ची उत्कटता तथा पूर्ण गम्भीरता से उत्साहित हुए थे। १८वीं सदी में यूरोपीय बुद्धिवाद का समाधान चीन की गम्भीर चिन्तनशीलता से हुआ, वहीं १९ वीं सदी में जर्मन स्वच्छन्दतावाद संस्कृत साहित्य के प्रति तीव्रता से आकृष्ट हुआ। इस विशेष आकर्षण का कारण यह भी था कि जहाँ जर्मनों में आधुनिक रोमैटिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) रहा है, वहीं भारतीय प्राचीन स्वच्छन्दतावादी हैं। फ्रांस विद्या व कला का अधिक प्रेमी देश था। वहाँ के लामार्तिन, विक्टर ह्यूगो तथा द गीन्य आदि लेखकों ने भारतीयों से आध्यात्मिक संवाद स्थापित किया। ज्ञानवृत्ति प्रधान होती गयी और १८१४ में पहली बार कॉलेज द फ्रांस (अप्रैल, २००० में अपने पेरिस-प्रवास के समय लेखक को यह कॉलेज देखने का अवसर मिला) में संस्कृत आचार्य का पद निर्मित किया गया। प्रथम संस्कृताचार्य प्रो. चैसी के बाद १८३२ में उनके उत्तराधिकारी प्रो. ब्यूर्नो ने अपने प्रथम भाषण में ही कहा – "भारतीय दर्शन व पुराकथा, साहित्य तथा धर्मशास्त्र जैसा अध्ययन हम भारत-भाषा अर्थात् संस्कृत में ही करेंगे। वास्तव में यह ज्ञान केवल भारतीय ही नहीं हैं, पूरे विश्व की उत्क्रान्ति (विकास) तथा उन्नति के लिये है और मानव-मन के विकास से सम्बन्धित इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ हैं। इन अक्षरों में गर्भित ज्ञान को हम संस्कृत भाषा के द्वारा ही प्राप्त करेंगे।" १८५० से १९२० का कालखण्ड विश्व द्वारा भारत-विद्या पर होनेवाले अध्ययन-अनुसन्धान की दृष्टि से स्वर्णकाल कहा जा सकता है। इस सर्वांगीण अध्ययन का बहुत कुछ श्रेय जर्मन संस्कृतज्ञों को ही दिया जाना चाहिये। ग्रीक तथा रोमन पद्धति से यूरोपीय विद्वानों द्वारा किये गये शोध-कार्यो के अलावा मिस्र, असीरिया तथा चीन आदि देशों में भी अब संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था। अब यह अनुभव किया जाने लगा कि भारत के शास्त्रीय पण्डितों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना ही फलप्रद होगा। यूरोप में शास्त्र-शुद्ध संस्कृत के विकास के लिये 'गुरुमुख' ही एक अद्वितीय अवलम्ब हैं।

जैसा कि स्वाभाविक ही है कि इस अभियान में भी अन्य अभियानों की भाँति कुछ अप्रिय बातें घटित हुई। हमने जहाँ एक ओर पाश्चात्य विद्वानों, यथा श्री विलियम्स जोन्स को 'ओरियेटल जोन्स', श्री मैग्डॉनल को 'मुग्धानल' तथा श्री मैक्समूलर को 'मोक्षमूल:' जैसे सार्थक अलंकरण प्रदान किये, वहीं कुछ पाश्चात्य इतिहासकारों ने भारत तथा भारतविद्या के विषय में पूर्वाग्रह-ग्रस्त तथा दुर्भावनापूर्ण लेखन कार्य भी किया। जानबूझ कर यह प्रचारित किया गया कि भारतीयों ने अपनी संस्कृति ग्रीक, असीरियन या बेबीलोनियन लोगो से उधार ली। मैक्समूलर के इस आशय के किसी पत्र का भी उल्लेख यत्र-तत्र पाया जाता है। भारत में इस पर दोनों प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। आक्रामक रुख भी देखने को मिला। लेकिन प्रसन्नता की बात यह है कि भारतीय चिन्तक अब अपनी भूमि स्वयं जोतने लगा है। उसने 'भारत-विद्या' को एक स्वदेशी ज्ञानशाखा की श्रेणी प्रदान कर दी है और पाश्चात्य विचारक तथा उनके भारतीय चेले भी 'आर्य बाहर से भारत में आये' का राग अलापना बन्द कर भारत, भारतीयता तथा भारतविद्या को सही नजरिये से देखने लगे है। कम-से-कम अभी तक हुए अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या-परिषद् के ४० अधिवेशनों, १२ विश्व-संस्कृत सम्मेलनों तथा १६ विश्व-रामायण सम्मेलनों से भी यही तथ्य स्थापित होता है। आज भूमण्डलीकरण के युग में आवश्यकता इस की है कि हम भारतीय पण्डित भी अति आत्ममुग्ध न हो और विदेशी संस्कृत-सेवी भी दुराग्रह से मुक्त हों।

❑❑❑

अभिवादन की पद्धतियाँ और प्रयोजन

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

वर्तमान में अभिवादन का बड़ा महत्व है। अभिवादन हमारी संस्कृति, आचार-व्यवहार तथा शिष्टाचार का एक अभिन्न अंग हो गया है। वरिष्ठ जनों को देखते ही हमारे मन मे उनके प्रति श्रद्धा जाग्रत होती है और प्रबल इच्छा उठती है कि हम उनका तत्काल अभिवादन करें। अभिवादन जीवन का प्राण है। अभिवादन से अभ्युदय, समृद्धिशीलता, शक्ति-सम्पन्नता तथा नि:श्रेयस् की प्राप्ति होती है।

अभिवादन की पद्धतियाँ

अभिवादन की विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलन में हैं जो अलग-अलग नामो से जानी जाती है। अभिवादन को हर देश और हर जाति मे महत्त्व प्राप्त है। भले ही इनकी पद्धतियॉ भिन्न हों, तथापि शिष्टाचार के अन्तर्गत इनका बराबर पालन किया जाता है। कुछ प्रमुख पद्धतियॉ निम्नलिखित हैं –

नमस्कार या प्रणाम

वन्दनीय या माननीय व्यक्ति के प्रति आदर व्यक्त करने हेतु नमस्कार या प्रणाम का अवलम्बन किया जाता है। दोनों हाथो की हथेलियों को जोड़कर तथा उन्हें सीने तक लाकर 'नमस्कार' किया जाता है, जबकि हाथ जोड़कर या सिर झुकाकर की जानेवाली मुद्रा 'प्रणाम' कहलाती है। नमस्कार अपने से बड़ों को किया जाता है तथा प्रणाम माता-पिता, गुरुजनों या अन्य पूज्य लोगों को। मस्तक झुकाकर प्रणाम करना विनम्रता का द्योतक है। समवयस्कों को बहुधा 'नमस्ते' कहने का प्रचलन है तथा यह सामान्यतया पाँचों उँगलियों को सटाकर माथे को स्पर्श करते हुए किया जाता है।

दण्डवत् तथा साष्टांग प्रणाम

दण्डवत् और साष्टांग प्रणाम पहले देवताओं को किये जाते थे, किन्तु अब माता-पिता और वरिष्ठ जनों को किये जाने लगे है। (दण्ड) लकड़ी (वत्) की तरह पृथ्वी पर सीधे पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को आगे फैलाकर किया गया प्रणाम 'दण्डवत्' कहलाता है। इसी को 'साष्टांग प्रणाम' भी कहते हैं, किन्तु इसमे आठ अंगों का उपयोग करना अभिप्रेत है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है –

उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा।
पटाभ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टांग उच्यते।।

– मस्तक, छाती, हाथ, पैर, घुटने, ऑख, वाणी एवं मन – इन आठ अंगो से युक्त प्रणाम 'साष्टांग प्रणाम' कहलाता है।

साष्टांग प्रणाम करते समय पहले पॉच अंग धरती को स्पर्श करते है। जबकि मन (ध्यान), वाणी (स्तवन) तथा दृष्टि (आँखें) देवता की प्रतिमा की ओर लगे होते हैं। माना जाता है कि दण्डवत् या साष्टांग प्रणाम करनेवाला व्यक्ति जीवात्मा होता है, और जिन व्यक्ति को यह किया जाता है, वह परमात्मा का रूप होता है। देवता की पूजा और आरती के पश्चात् प्रतिमा को साष्टांग प्रणाम करने का विधान है।

चरण-स्पर्श

भारतीय आचार-परम्परा में चरण-स्पर्श का भी अपना महत्त्व है। चरण छूनेवाले व्यक्ति को कमर से पूरी तरह झुककर माता-पिता व गुरुजनों के दोनों मिले हुए चरणों पर मस्तक रखना चाहिए तथा अपने दोनों हाथों से दोनो चरणों को एक साथ स्पर्श करना चाहिए। चरण-स्पर्श करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि दाहिने हाथ से दाहिने चरण का और बायें हाथ से बायें चरण का स्पर्श हो। इससे नम्रता तथा श्रद्धाभाव व्यक्त होता है। महाराष्ट्रीय स्त्रियॉ अपने से बड़ों को प्रणाम करते समय जुड़ी हुई हथेलियों से चरणों को स्पर्श करते हुए तीन बार नमस्कार करती हैं। इसमें शायद यह भावना निहित है कि उन्होने यह प्रणाम काया-वाचा-मनसा किया है। चरण-स्पर्श आचरण-शुद्धि का द्योतक है।

हस्तान्दोलन

यह पद्धति वर्तमान में सर्वाधिक प्रचलित है और पाश्चात्य देशों की नकल मानी जाती है, तथापि वाल्मीकि रामायण (४/५/११-१२) में – श्रीराम से मैत्री बढ़ाने को उत्सुक बाली जब उनसे कहता है, "यदि आप मुझसे हाथ मिलाने को इच्छुक हों, तो मेरा हाथ प्रस्तुत है।' तब श्रीराम उसका हाथ दबाकर मैत्री की पुष्टि करते है – **सम्पृष्टमना: हस्तं पीड़यामासपादिना**। हस्तान्दोलन करते समय 'हाऊ डू यू डू' बोलकर खुशी जताने की प्रथा है। किसी से दिन में पहली बार भेंट होने पर या स्वागत करते समय या विदाई के समय हस्तान्दोलन की परम्परा है। हाथ न केवल प्रेम-भाव व्यक्त करने के साधन हैं, अपितु वीरता व पौरूष के भी प्रतीक हैं। प्राचीन काल में हाथ का उपयोग कोई कार्य सम्पन्न करने, यथा शत्रु का मुकाबला करने या वन्य पशुओं का सामना करने के लिए किया जाता था। प्राचीन काल में जब भी कोई व्यक्ति अपना दाहिना हाथ बढ़ाता था, तो इसे मित्रता की पहल मानकर दूसरा व्यक्ति भी अपना दाहिना हाथ बढ़ाकर मित्रता की पुष्टि करता था। आशय यह भी होता था कि संकट की बेला में दोनों एक दूसरे की मदद करेंगे। हस्तान्दोलन का मूल उद्देश्य पारस्परिक सम्बन्धों को दृढ़तर करना है।

हस्तान्दोलन या हाथ मिलाने के कीर्तिमान भी स्थापित हुए हैं। अमेरिका के एक भूतपूर्व राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने १९०७ ई. में नववर्ष के दिन १ जनवरी को ८,५१३ व्यक्तियों से हाथ मिलाने का कीर्तिमान स्थापित किया था। इस कीर्तिमान या रिकार्ड को फिनलैंड के रेनर विक स्टार्स नामक एक व्यक्ति ने दिनांक १५ मई, १९८८ को आयोजित 'मानसून मार्किना' उत्सव में १९,५९२ लोगों से हाथ मिलाकर तोड़ा। अब सुनने में आया है कि ग्वालियर-निवासी श्री योगेश शर्मा ने एक दिन में ३१,११८ लोगों से हाथ मिलाकर नया कीर्तिमान स्थापित किया है। दो राष्ट्र-प्रमुखों द्वारा परस्पर हाथ मिलाना शिष्टाचार ही नहीं, शान्ति, मैत्री व प्रेम का भी प्रतीक है।

अभिवादन की प्राचीनता

हमारे यहाँ अभिवादन की प्राचीन परम्परा है। अभिवादन में तीन क्रियाओं का महत्त्व है – उठकर खड़े होना, अपने नाम का उच्चारण करना और हाथों से प्रणाम करना। मनु कहते हैं – वयोवृद्ध लोगों को नित्य अभिवादन करने से आयु, विद्या, यश तथा शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है –

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।।

(मनुस्मृति, २/१२४)

तब अभिवादन करते समय – **अयमहम्** – 'मैं अमुक हूँ' – कहकर अपना परिचय देते हुए चरण-स्पर्श करने की प्रथा थी। (मनुस्मृति २/१२५)। याज्ञवल्क्य स्मृति (१/२६) के अनुसार जब छात्र विद्याध्ययन के लिए आश्रम में रहते थे, तब उनके लिए नियम था कि रात के अन्तिम प्रहर में उठकर अपना नाम व गोत्र-नाम लेकर गुरु का अभिवादन करें। 'संस्कार-प्रकाश' ग्रंथ में अभिवादन किसे और किस तरह करना चाहिए, इसे इस प्रकार बताया गया है –

अजाकर्णेन विद्वांसं यतिं सम्पुटपाणिना।
मूर्खं चैवेक हस्तेन कनिष्ठं नाभिवादयेत्।।

– "विद्वान् को बकरी के कान के समान हाथ जोड़कर, यति को कर-सम्पुट जोड़कर एवं मूर्ख को एक हाथ से अभिवादन करना चाहिए। अपने से छोटों को अभिवादन करने की आवश्यकता नहीं।"

ऐतरेय ब्राह्मण (२/३/२) की व्याख्या में सायणाचार्य भी कहते हैं कि अपने से श्रेष्ठ आचार्य, पिता आदि को देखकर शिष्य को खड़े होना चाहिए – **श्रेयांसम् आयन्तम् उत्तिष्ठन्ति।**

मनु (२/१३२) कहते हैं कि पर-स्त्री को सदैव 'भवति, सुभगे अथवा भगिनि' कहकर सम्बोधित करना चाहिए। उनका यह भी कहना है कि वाहन पर बैठे शिष्य को सामने गुरु दिखाई देने पर उसे वाहन से उतरकर अभिवादन करना चाहिए। (२/२०६)

देवताओं की पूजा के समय किस देवता को कितनी बार प्रणाम करना चाहिए, इसे भी इस श्लोक में कहा गया है –

गणेशाय त्रिक् देवाय पंच विष्णोश्चत्वारैव च।
देव्याः एवं एकः सूर्याय सप्त नमस्काराः सुकीर्तितः।।

– "गणेशजी को तीन बार, शिवजी को पाँच बार, विष्णुदेव को चार बार, देवी को एक बार तथा सूर्यदेव को सात बार नमस्कार करना चाहिए।"

अभिवादन-सम्बन्धी नियम

हमारे आचार-नियमों में जूते पहने, सो रहे या भोजन कर रहे व्यक्ति को नमस्कार करना निषिद्ध माना गया है। स्मृति ग्रन्थों में आदेश हैं कि मामा, चाचा तथा ऐसे सम्बन्धियों के लिए जो रिश्ते में बड़े पर आयु में छोटे हों, अभिवादन की आवश्यकता नहीं। मिताक्षरा कहती है – पापी, चोर, जुआरी तथा शराबी को कभी अभिवादन नहीं करना चाहिए (याज्ञवल्क्य-स्मृति, १/१३०)। मनु (२/१२६) के आदेश हैं कि एक ब्राह्मण द्वारा अभिवादन करने पर दूसरे ब्राह्मण को प्रत्युत्तर में आशीर्वचन कहने चाहिए या प्रत्याभिवादन करना चाहिए।

अभिवादन का औचित्य तथा महत्त्व

वस्तुतः अभिवादन अपने से बड़ों के प्रति सम्मान व श्रद्धा व्यक्त करने तथा परिचितों के प्रति आत्मीयता प्रदर्शित करने का एक सरल तरीका है। अपरिचित व्यक्ति से परिचय बढ़ाने तथा बातचीत प्रारम्भ करने का अभिवादन एक प्रभावी माध्यम है। इसी कारण फोन पर सम्भाषण करने से पहले 'नमस्कार' कहने की प्रथा है। एक दूसरे से मिलने और बात करने में हिचकिचाहट व दुविधा की स्थिति से उबारने में भी यह सहायक सिद्ध होता है। अभिवादन वह अमोघ शस्त्र है, जिसका प्रयोग कभी निष्फल नहीं होता। इसी कारण महाभारत (१/४०/६७) में उत्कर्ष या उन्नति की इच्छा करने के लिए हाथ जोड़ने का सहारा लेने को कहा गया है। अभिवादन न करनेवाले व्यक्ति को समाज में घमण्डी और अशिष्ट माना जाता है। अभिवादन की आज सार्वभौमिक उपयोगिता है। इसका व्यवहार श्रेयस्कर है, इसी कारण कहा गया है – "दिल मिले या न मिले, हाथ मिलाते रहिए।" ❑❑❑

सुभद्रा-हरण

नरेन्द्र कोहली

इन्द्रप्रस्थ से अपने निर्वासन की अवधि में मणिपुर से चलकर अर्जुन प्रभास क्षेत्र मे पहुँचते है। यहाँ उनकी स्थिति पहले से पर्याप्त भिन्न है। यहाँ न वे अकेले हैं, न असहाय। प्रभास क्षेत्र में पहुँचते ही श्रीकृष्ण उनका स्वागत करते हैं, मानो उन्हे पहले से ही, उसके आगमन की सूचना हो। श्रीकृष्ण उनके मातुलपुत्र तथा मित्र है ही, द्वारका में उनके मामा वसुदेव भी हैं तथा अन्य सम्बन्धियों की भी कमी नहीं है। द्वारका में सबसे बड़ी घटना सुभद्रा-हरण है। महाभारत-कार ने अर्जुन का सुभद्रा पर मुग्ध होना चित्रित अवश्य किया है, किन्तु अर्जुन के मन में सुभद्रा से विवाह की कामना स्वत: नही जागती। उसकी प्रेरणा उन्हें श्रीकृष्ण से ही मिली है। सुभद्रा का परिचय देकर श्रीकृष्ण उनसे पूछते हैं कि क्या वह सुभद्रा से विवाह करना चाहेगा? उनकी सहमति मिलने पर यह प्रस्ताव भी रखते है कि वे इस सन्दर्भ में अपने पिता वसुदेव से बात करेगे। किन्तु अगले ही क्षण हम देखते हैं कि वे अर्जुन को सुभद्रा का हरण करने का परामर्श दे रहे हैं। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि वे प्रस्ताव रख कर भी वसुदेव से बात नहीं करते, वरन् सुभद्रा-हरण की योजना को कार्यान्वित करने के लिए सक्रिय हो जाते हैं। उससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि अर्जुन तो युधिष्ठिर से दूत के माध्यम से विधिवत् इस हरण की अनुमति माँगते हैं, किन्तु द्वारका में रहते हुए भी वसुदेव और बलराम से न श्रीकृष्ण चर्चा करते हैं, न अर्जुन। यहाँ तक कि सुभद्रा को भी इसका कोई आभास नही है। इस व्यवहार का एक ही अर्थ हो सकता है कि श्रीकृष्ण और उनके माध्यम से अर्जुन – यह जानते थे कि वसुदेव और बलराम को यह सम्बन्ध मान्य नही होगा। सुभद्रा की भी अर्जुन के प्रति कोई आसक्ति दिखाई नही देती। श्रीकृष्ण की उक्तियाँ स्पष्ट संकेत करती हैं कि इस सम्बन्ध मे वे सुभद्रा के निर्णय को स्वीकार नही कर सकते। वे उसकी बुद्धि को अनिश्चित् मानते हैं।

सुभद्रा के विषय मे जो भी संकेत मिलते है। वे उसके स्वावलम्बी व्यक्तित्व की छवि आँकते हैं। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण भी उसके विवाह-विषयक निश्चय के बारे में आश्वस्त नही है। यदि सुभद्रा श्रीकृष्ण के कहने मे नही है, तो निश्चय ही वह किसी के भी कहने मे नही है। ऐसी कन्या क्षत्रियों की परम्परा के अनुसार स्वयंवर की कामना करेगी और स्वयंवर में उसका चयन क्या होगा, इसके विषय में कोई भी पहले से आश्वस्त नही हो सकता। श्रीकृष्ण के व्यवहार से हम एक ही स्पष्ट निष्कर्ष निकाल सकते है कि वे सुभद्रा को स्वयंवर का अवसर नहीं देना चाहते। इसलिए नही कि वे सुभद्रा से प्रेम नही करते, अथवा अपना निर्णय उस पर थोपना चाहते थे, वरन् इसलिए कि सुभद्रा की निर्णायक बुद्धि पर उनको विश्वास नहीं था। उन्होंने सुभद्रा के वर के रूप में अर्जुन को चुना था और वे मानते थे कि उससे श्रेष्ठतर वर सुभद्रा के लिए हो नही सकता। किन्तु इस सन्दर्भ में वे सुभद्रा को समझा-बुझा नहीं सकते थे, उसे बाध्य ही कर सकते थे, जो उन्होंने किया। सुभद्रा से इस विषय में चर्चा न कर सकने के दो ही कारण हो सकते हैं · या तो सुभद्रा अभी विवाह ही नहीं करना चाहती थी, या फिर उसने अपने लिए कोई अन्य पुरुष को चुन रखा था। महाभारत के चित्रण में न तो कहीं, सुभद्रा का विवाह-सम्बन्धी विरोध प्रकट होता है, और न ही किसी अन्य पुरुष के चुनाव का ही कोई प्रमाण मिलता है। इसलिए इस प्रश्न का समाधान मुझे सुभद्रा के चरित्र की स्वतंत्रता तथा स्वावलम्बिता में ही झलकता दिखाई पड़ता है। बहुत सम्भव है कि उस का आग्रह स्वयं निर्वाचन करने पर ही हो और वह स्वयंवर के माध्यम से ही हो सकता है। यदि उसने कोई पूर्व चयन किया होता, तो उस के विषय में श्रीकृष्ण को सूचना अवश्य होती और वे उस सन्दर्भ में अपनी इच्छा-अनिच्छा प्रकट करते। किन्तु जब सुभद्रा ने ही स्वयं अपने मन में कोई निर्णय नही किया है और वह स्वयंवर के अन्तिम क्षणों में ही वहाँ उपस्थित राजाओं में से किसी को चुन लेने का मन बनाए हुए थी, तो श्रीकृष्ण उस विषय में निश्चिन्त कैसे हो सकते थे।

सुभद्रा का अर्जुन-सम्बन्धी कोई विरोध भी दिखाई नही पड़ता, किन्तु आर्श्यजनक तथ्य यह है कि श्रीकृष्ण इस सम्बन्ध को लेकर वसुदेव और बलराम की ओर से भी निश्चिन्त नही हैं। अन्यथा वे वसुदेव से चर्चा करने का प्रस्ताव करके भी उसे टाल नहीं जाते और वसुदेव को अन्धकार में रख, सुभद्रा-हरण की योजना नहीं बनाते। वसुदेव अर्जुन के मामा है, वे अपनी बहन कुन्ती से पर्याप्त प्रेम करते है और समय-समय पर उसकी सहायता करने के इच्छुक रहते है। अर्जुन उन्ही कुन्ती के योग्य पुत्र है। सुदर्शन और प्रियदर्शन है। धनुर्वेद मे पारंगत है। शूर-वीर हैं और चरित्र की दृष्टि से भी असाधारण हैं। वैसे तो पाँचों पाण्डव सुरूप और सुदर्शन बताए गए हैं, किन्तु नारी-मन के लिए अर्जुन ही सर्वाधिक आकर्षक रहा है। फिर भी उस अर्जुन से वसुदेव अपनी पुत्री का विवाह न करना चाहें, तो उसके अवश्य ही कुछ कारण होने चाहिए।

हम इस समस्या पर अर्जुन के मातुल की दृष्टि से नहीं, कन्या के पिता की दृष्टि से विचार करें। मुझे लगता है कि सबसे पहले कन्या की आयु पर ध्यान दिया जाना चाहिए। हमारे पुराणों में एक बड़ी परेशानी यह है कि किसी भी पात्र के जन्म का ठीक-ठीक काल नहीं मिलता। जहाँ रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण के विवाह की चर्चा होती है, वहीं प्रद्युम्न का जन्म भी होता है। प्रद्युम्न युवा भी हो जाता है। उसका विवाह भी हो जाता है। शेष सारी कथा वहीं-की-वहीं ठहरी रहती है। इस प्रकार भागवत और महाभारत में वसुदेव या देवकी की सन्तानों की गणना में सुभद्रा का नाम तो गिना दिया जाता है, किन्तु उसके जन्म का काल निश्चित रूप से नहीं बताया जाता। यद्यपि भागवत में सुभद्रा को देवकी की पुत्री कहा गया है; किन्तु महाभारत में श्रीकृष्ण उसे वसुदेव की पुत्री, अपनी भगिनी तथा सारण की सहोदरा बताते हैं। सारण की माता देवकी नही है। अर्थात् सारण रोहिणी या वसुदेव की किसी अन्य रानी का पुत्र है। अतः सुभद्रा भी रोहिणी की ही पुत्री हुई। रोहिणी कारागार में वसुदेव के साथ नहीं थीं। इसलिए सुभद्रा का जन्म वसुदेव के कारागार से छूटने के पश्चात् ही होना चाहिए। यदि सुभद्रा को देवकी की पुत्री मान भी लिया जाए, तो कंस-वध तक उसका जन्म नहीं हुआ था। श्रीकृष्ण को कंस-वध के समय कम-से-कम सोलह वर्षों का अवश्य माना गया है। इस का अर्थ यह हुआ कि जब वसुदेव कारागार से छूटे, तो श्रीकृष्ण सोलह वर्ष के अवश्य थे। रोहिणी ने उसके पश्चात् सारण को जन्म दिया और तब सुभद्रा का जन्म माना जाए, तो सुभद्रा श्री कृष्ण से कम-से-कम बीस वर्ष छोटी ठहरती है।

श्रीकृष्ण और अर्जुन को लगभग समवस्यक माना गया है। इस दृष्टि से अर्जुन और सुभद्रा की अवस्था में कम-से-कम अट्ठारह-बीस वर्षों का अन्तराल होना चाहिए। यह एक बड़ा कारण हो सकता है, जिसके आधार पर वसुदेव अर्जुन को जामाता के रूप में स्वीकार न करना चाहते हों। किन्तु अवस्था का यह अन्तर, महाभारत के अन्य पात्रों के सन्दर्भ में कोई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता। अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका – तीनों छोटी-बड़ी बहनों को भीष्म विचित्रवीर्य के योग्य पत्नियाँ मानते है। द्रौपदी युधिष्ठिर की भी समवयस्क पत्नी मानी जाती हैं और सहदेव की भी। सबसे बड़ी बात तो यह है कि विराट अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ करना चाहते हैं, जो वस्तुतः वय की दृष्टि से अभिमन्यु की पत्नी बनने योग्य थी। अभिमन्यु उस समय सोलह वर्षों से भी कम अवस्था का बालक था। अर्जुन अपने विवाह के पश्चात् बारह वर्षो के वनवास, एक वर्ष का अज्ञातवास तथा अनेक वर्षों का राज्यभोग कर चुके है। किसी भी गणित से उनकी अवस्था पचास पचपन वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। यदि पचास-पचपन वर्ष के पुरुष से विराट अपनी पन्द्रह वर्ष की कन्या का विवाह सहर्ष कर रहे थे, तो उस समाज मे अर्जुन और सुभद्रा के वय का अन्तर बहुत गम्भीर अन्तर नहीं था। किन्तु वे समवयस्क दम्पति तो नहीं ही हो सकते थे। इसलिए वसुदेव इस सम्बन्ध को बिना किसी आपत्ति के कैसे स्वीकार कर सकते थे!

महाभारत की सारी कथा में बलराम पाण्डवों के विरुद्ध कभी नहीं गए; किन्तु कौरवों के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत विरोध का दिखाई नही देता। दुर्योधन को बलराम का शिष्य माना गया है और अनेक स्थानों पर ऐसा लगता है कि बलराम को शिष्य के रूप में दुर्योधन भीम से भी अधिक प्रिय है। महाभारत के युद्ध में भी जहाँ श्रीकृष्ण पूरी तरह से न केवल पाण्डवों के साथ थे, वरन् उस का सारा सैन्य-अभियान संचालित भी कर रहे थे, बलराम उस युद्ध में दिखाई ही नहीं दिए। उसका कारण भी यही प्रतीत होता है कि बलराम पाण्डव सेना की ओर से लड़ना नहीं चाहते थे; दुर्योधन की ओर से लड़ना श्रीकृष्ण के विरुद्ध लड़ने के समान था। वे बाद की बातें हैं। सुभद्रा-विवाह के प्रसंग में भी ऐसा लगता है कि बलराम सुभद्रा के वर के रूप में किसी और को चुन चुके थे, या चुनना चाहते थे।

एक बात और भी सम्भव है। तब तक इन्द्रप्रस्थ एक छोटा-सा राज्य था, जो खाण्डव वन में छिपे बैठे अपने शत्रुओं से भी निपट नहीं पा रहा था। उसे जब-जब धन की आवश्यकता होती थी, श्रीकृष्ण पाण्डवों की आर्थिक सहायता करते थे। इन तथ्यों को ध्यान में रखें, तो निश्चित् रूप से पाण्डव उस समय तक यादवों से कम प्रतिष्ठावाले, निर्बल तथा निर्धन सम्बन्धी थे। ऐसे सम्बन्धियों की सहानुभूतिवश सहायता तो की जा सकती है, किन्तु उन्हें अपने समकक्ष, बराबर का व्यक्ति स्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्भव है, वसुदेव और बलराम के लिए अर्जुन निर्धन बहन अथवा निर्धन बूआ का पुत्र हो। उसे अपने समान मानकर जामाता के रूप में तो अंगीकर नहीं किया जा सकता।

यदि इन निष्कर्षो को हम कुछ भी महत्त्व दें, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यादव अपनी सम्पन्नता तथा शक्ति के मद में धर्म के लिए, उतने उत्सुक नहीं रह गए थे, जितने कि श्रीकृष्ण थे। इसके प्रमाण महाभारत, हरिवंश पुराण तथा भागवत महापुराण में वर्तमान हैं कि यादवो मे विलासिता की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। बलराम को तो प्रायः उन्मत्त अथवा क्षीव के रूप में चित्रित किया गया है। यादवों में विलासिता का इतना महत्त्व हो चुका था, तो उनके आदर्श भी वे नहीं रह गए होंगे, जो कृष्ण तथा पाण्डवों को प्रिय थे। ऐसी स्थिति में उनकी दृष्टि वर की धर्म-परायणता पर न जाकर उसकी अर्थसम्पन्नता पर ठहरती होगी। इस दृष्टि से अर्जुन से

कही योग्य वर उनकी दृष्टि में रहे होंगे। कुल मिलाकर लगता है कि सिवाय श्रीकृष्ण के शायद ही किसी परिवारजन का चुनाव अर्जुन होता। इन सब बातों को श्रीकृष्ण जानते और समझते थे। इसीलिए अपने पिता, माता अथवा भाई से इस सम्बन्ध में चर्चा करने के स्थान पर उन्होंने अर्जुन को सुभद्रा-हरण करने का परामर्श दिया।

निश्चित रूप से यह जोखिम-भरा कार्य था। यादवों की नगरी से उनकी प्रिय कन्या का हरण करके ले जाना कोई छोटी-मोटी घटना नहीं थी। यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि श्रीकृष्ण ने उस कार्य के लिए अर्जुन को अपना रथ तथा घोड़े दिए। यह रथ सामान्य सवारी का रथ नहीं है। यह श्रीकृष्ण का रथ है, जो शस्त्रास्त्रों से भरा हुआ है। जो युद्ध के काम आता है और जिसमें तीव्रगामी घोड़े जुते हुए हैं। महाभारत के अनुसार उस रथ में स्थान-स्थान पर छोटी-छोटी घण्टिकाएँ तथा झालरें लगा दी गयी थीं और सुग्रीव आदि अश्व भी उसमें जोत दिए थे। उस रथ के भीतर सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्र वर्तमान थे। उसकी घरघराहट से मेघ की गर्जना जैसी आवाज होती थी। वह प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी जान पड़ता था। उसे देखते ही शत्रुओ का हर्ष हवा हो जाता था। (महाभारत, आदिपर्व, २१९/३-४) अर्जुन भी कवच और तलवार बाँधकर तथा हाथों में दस्ताने पहनकर युद्ध के लिए पूर्णत: सज्जित होकर इस साहसपूर्ण कार्य के लिए गये थे।

यद्यपि महाभारत में कन्या-हरण की अनेक घटनाएँ वर्णित हैं; किन्तु उसका प्रचलन होने पर भी वह क्षत्रियों को स्वीकार्य नहीं था, इसीलिए उसकी प्रतिक्रिया भी बड़ी भयंकर होती थी। इस प्रसंग में भी यही हुआ। सारे यादव वीर, अर्जुन से लड़ने के लिए सन्नद्ध हो गए। उन सबके नेता थे बलराम। उनमें से किसी ने यह नहीं कहा कि अर्जुन सुभद्रा के लिए उपयुक्त वर है। अत: इस सम्बन्ध को स्वीकृति दे दी जाए। वे सब लोग अर्जुन को नीच और कृतघ्न बता रहे थे, जिसने जिस बर्तन में खाया था, उसी मे छेद किया था। वे लोग न केवल सुभद्रा को लौटा लाना चाहते थे, वरन् अर्जुन को इस कृत्य के लिए दण्डित भी करना चाहते थे। ऐसे में यह श्रीकृष्ण का ही कौशल था कि उन्होंने अपने तर्को से यह सारी स्थिति बदल दी और उस युद्ध अभियान को न केवल स्थगित करवा दिया, वरन् यादवो को इस बात के लिए भी मनवा लिया कि वे लोग अर्जुन के पीछे जायेंगे और उन्हे लौटा लायेंगे। द्वारका में अर्जुन और सुभद्रा का पूरे सम्मान के साथ विवाह होगा और अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ पहुँचने पर दहेज का सामान भी इन्द्रप्रस्थ पहुँचा दिया जाएगा।

इसके लिए श्रीकृष्ण ने पहले तो यह तर्क दिया कि अर्जुन ने उनके कुल का अपमान नहीं किया है, वरन् उनके प्रति सम्मान का भाव ही प्रकट किया है। उन्होंने कहा कि यादव धन लेकर अपनी कन्या नही देते। दान मे कन्या को प्राप्त करना क्षत्रियों के लिए सम्मानजनक नही है। इसलिए अर्जुन न तो दान मे सुभद्रा को स्वीकार करता और न ही उस दान की प्रतीक्षा मे वह निष्क्रिय बैठा रह सकता था। उसने एक वीर क्षत्रिय के समान बलपूर्वक कन्या का हरण किया। श्रीकृष्ण का अभिप्राय कुछ ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे कहना चाहते हों कि अर्जुन ने सुभद्रा को अपनी पत्नी होने योग्य समझा, इससे सुभद्रा का वंश सम्मानित ही हुआ है, और इस हरण से अर्जुन ने अपनी वीरता भी प्रमाणित की है। बलराम तथा अन्य यादव जब बार-बार अर्जुन से लड़ने और उसे मारने की धमकी देते है तो श्रीकृष्ण कहते हैं, 'इन्द्रलोक तथा रुद्रलोक सहित सम्पूर्ण लोको में कामदेव का नाश करनेवाले विकराल नेत्रो से युक्त भगवान रुद्र को छोड़ दूसरे किसी को मै ऐसा नही देखता, जो संग्राम में बलपूर्वक पार्थ को परास्त कर सके। इस अर्जुन के पास मेरा सुप्रसिद्ध रथ है। मेरे ही अद्भुत घोड़े है और स्वयं अर्जुन शीघ्रतापूर्वक शस्त्रास्त्र चलानेवाले योद्धा है। यदि अर्जुन बलपूर्वक आप लोगों को हराकर अपने नगर में चले गए, तब तो आपका सारा यश ही नष्ट हो जाएगा और सान्त्वनापूर्वक उन्हे ले आने में अपनी पराजय नही है।' (वही, २२०/८-१२)

यहाँ श्रीकृष्ण ने न केवल यह स्पष्ट कर दिया कि इस युद्ध में वे यादवो की ओर से नही लड़ेंगे, वरन् यह भी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि वे लोग अर्जुन को पराजित नहीं कर पायेंगे। यह चेतावनी थी, जिसके कारण बलराम तक का साहस नहीं हुआ कि वे अर्जुन से जा भिड़ते और उन्हें पराजित कर सुभद्रा को लौटा लाते।

एक और प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि क्या श्रीकृष्ण के लिए सुभद्रा के विवाह के सन्दर्भ में उसकी अपनी इच्छा का कोई महत्त्व नही था? क्या वे उसकी इच्छा के विरुद्ध अपना मनोनीत वर उस पर बलात् थोप देना चाहते थे? जिन श्रीकृष्ण ने भीष्मक द्वारा रुक्मिणी की इच्छा के विरुद्ध शिशुपाल से उसके विवाह का विरोध किया और वे रुक्मिणी का हरण कर लाए, उन श्रीकृष्ण के लिए अपनी बहन की इच्छा क्या कोई अर्थ नही रखती? इस प्रश्न का उत्तर यह कहकर, बहुत सुविधा से दिया जा सकता है कि श्रीकृष्ण जानते थे कि सुभद्रा अर्जुन के साथ सुखी रहेगी। किन्तु ऐसा दावा तो प्रत्येक कन्या के अभिभावक द्वारा किया जाता है। श्रीकृष्ण ने सुभद्रा को अपने लिए अपना जीवन साथी चुनने का अवसर क्यों नहीं दिया?

श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व जिस रूप में हमारे सामने आता है, उससे ऐसा नही लगता कि वे किसी व्यक्ति की न्यायपूर्ण स्वतंत्रता का दमनकर अपनी इच्छा उस पर आरोपित करने

के अभ्यस्त रहे हों। किन्तु उनकी कार्य-प्रणाली सदा सीधी और सरल हो यह भी आवश्यक नहीं है। प्राय: उनके काम की ऊपरी सतह और उसकी भीतरी तह में पर्याप्त अन्तर होता है और सामान्यत: ऊपर से दिखाई पड़नेवाली स्थिति भ्रामक होती है। शायद इसीलिए श्रीकृष्ण को प्राय: प्यार से छलिया कहा जाता है। माया उनकी कार्य-प्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी प्रकाश में यदि हम सुभद्रा के चरित्र को देखें, तो कुछ महत्त्वपूर्ण अनुमान हमारे हाथ लगते हैं। सुभद्रा निश्चित रूप से स्वतंत्र और आत्मनिर्भर कन्या थी। वह द्वारका के यादवों के स्वतंत्र वातावरण में पली थी। घर में सबसे छोटी होने के कारण उसकी छवि वसुदेव की लाडली पुत्री तथा श्रीकृष्ण की लाडली बहन की है। कहा जाता है कि वह अश्व-संचालन तथा शस्त्र-परिचालन में भी सिद्धहस्त थी। बहुत सम्भव है कि पूछे जाने पर किसी वर के विषय में स्वीकृति न देने के कारण ही श्रीकृष्ण ने उसके साथ यह चाल चली हो। अर्जुन द्वारा उठाकर रथ में बैठा लिए जाने के पश्चात् विवाह तथा वर के चयन का प्रश्न टल नहीं सकता था। उसे तत्काल निर्णय करना था कि हरण के माध्यम से अर्जुन द्वारा किए गए विवाह-प्रस्ताव को वह स्वीकर करे या न करे। यदि उसे अर्जुन अपने पति के रूप में स्वीकार्य थे, तो उसे कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं थी। इस हरण का स्वाभाविक अर्थ विवाह ही था। किन्तु यदि अर्जुन उसे इस सीमा तक नापसन्द था कि वह उसे किसी भी स्थिति में पति के रूप में स्वीकार नहीं कर सकती थी, तो वह इस हरण का विरोध करने के लिए स्वतंत्र थी। अर्जुन रथ का सारथ्य कर रहा था, सुभद्रा के रक्षकों तथा सामान्य यादव सैनिकों से युद्ध कर रहा था; और सुभद्रा उसी रथ में स्वतंत्र रूप से बैठी हुई थी। उसके हाथ बँधे हुए नहीं थे। रथ में अनेक शस्त्रास्त्र रखे हुए थे, उन शस्त्रों को चलाने में वह सक्षम थी। यदि उसे अर्जुन का तिरस्कार करना था, तो शस्त्र उठाकर अर्जुन का प्रतिरोध मात्र करना था। शेष यादव सैनिक स्वयं ही कर लेते। अर्जुन भी श्रीकृष्ण की बहन को मार-पीट कर बाँधकर अथवा शस्त्र-बल से भयभीत कर उस की असहायता का लाभ उठाकर न तो उसे अपने साथ इन्द्रप्रस्थ ले जा सकते थे और न वे ले जाना चाहते ही। श्रीकृष्ण उनके कितने भी प्रिय मित्र हों, वे उनकी कितनी ही सहायता क्यों न कर रहे हों, किन्तु वे उसे इस बात की अनुमति किसी भी स्थिति में नहीं देते कि वह सुभद्रा को पशुवत् बाँधकर शस्त्र-बल के सहारे अपने साथ ले जाता और उससे विवाह कर लेता।

सुभद्रा ने इस हरण का विरोध नहीं किया। यह इस बात का पर्याप्त संकेत था कि अब तक चाहे उसने अर्जुन के प्रति अपना आकर्षण नहीं दिखाया था, किन्तु चुनाव की स्थिति आ जाने पर वह उसका तिरस्कार भी नहीं कर पाई थी। इसी सन्दर्भ में एक और घटना द्रष्टव्य है। इन्द्रप्रस्थ पहुँचकर जब अर्जुन द्रौपदी से मिलने जाता है, तो सुभद्रा से विवाह करने के कारण द्रौपदी अर्जुन के प्रति अपना रोष प्रकट करती है और कहती है कि वह उसके पास क्या करने आया है? वहीं जाए, जहाँ वह सात्वत-वंश की कन्या सुभद्रा है। सच है – बोझ को कितना ही कसकर बाँधा गया हो, जब उसे दूसरी बार बाँधते हैं, तब पहला बन्धन ढीला पड़ जाता है। (वही, २२०/१७) इस रोष को जीतने के लिए अर्जुन और सुभद्रा मिलकर योजना बनाते हैं। सुभद्रा का ग्वालिन का सा वेष बनाकर अर्जुन उसे बहुत उतावली से द्रौपदी के पास भेजते हैं। 'पूर्ण चन्द्रमा के सदृश मनोहर मुखवाली सुभद्रा ने तुरन्त जाकर महारानी के चरण छूए और कहा, "देवि ! मैं आपकी दासी हूँ।" यह घटना एक प्रकार से सुभद्रा की उस कामना की द्योतक है, जो अर्जुन के साथ सुखी दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने के लिए, उसके मन में जन्मी थी।

सुभद्रा-हरण की इस घटना को अम्बा-हरण के प्रकाश में भी देखा जा सकता है। भीष्म ने अम्बा का हरण किया था। जब तक अम्बा ने उसका विरोध नहीं किया, तब तक भीष्म उस पर अपना अधिकार समझते रहे। यही मानते रहे कि उसका विवाह वे जिससे चाहे कर दे सकते हैं। किन्तु जिस क्षण अम्बा ने कहा कि उसने मन-ही-मन शाल्व का वरण कर रखा है और वह उसकी वाग्दत्ता है – भीष्म ने तत्काल उसे ससम्मान शाल्व के पास भिजवा दिया। सुभद्रा के सन्दर्भ में भी अपने विवाह तथा पति के चयन-सम्बन्धी निर्णय की प्रक्रिया को तीव्र करने और तत्काल निश्चय करने के लिए उसे बाध्य करने का यह सबसे सरल और सुविधाजनक मार्ग था। अर्जुन ने सुभद्रा को प्राप्त करने का यह अत्यन्त जोखिम-भरा मार्ग अपनाया था। चाहे वह स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा ही निर्देशित था। यदि सुभद्रा अर्जुन का तिरस्कार कर देती, तो अर्जुन न केवल अपमानित होता, वह यादवों के द्वारा दण्डित भी होता। पाण्डवों और यादवों के सम्बन्ध बिगड़ जाते और पाण्डवों का एक शक्तिशाली राजनीतिक सहयोगी, उनसे पृथक् हो जाता।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इतने बड़े संकट में क्यों डाला? हम जानते हैं कि श्रीकृष्ण अर्जुन से इतना प्रेम करते थे कि वे उन्हें किसी संकट में डाल नही सकते थे। इसका अर्थ यह है कि किन्हीं अज्ञात कारणो से श्रीकृष्ण को पहले से ही यह विश्वास रहा होगा कि सुभद्रा अर्जुन का तिरस्कार नहीं करेगी। अर्जुन अपमानित और दण्डित नहीं होगा तथा यादवों और पाण्डवों के सम्बन्ध नहीं बिगड़ेंगे। किन्तु श्रीकृष्ण यह कैसे जानते थे, यह सूचना प्राप्त करने का मुझे कोई साधन दिखाई नहीं पड़ता।

इसी सन्दर्भ में सुभद्रा के विवाह के विरुद्ध उपजे द्रौपदी के रोष पर भी विचार कर लिया जाना चाहिए। द्रौपदी पाँचों पाण्डवो की पत्नी थी। नारद मुनि के आग्रह पर पाण्डवों ने यह नियम बनाया था कि वे प्रत्येक पाण्डव के साथ बारी-बारी से एक-एक वर्ष का सहवास करेंगी। जिस काल में वह एक भाई की पत्नी होगी, उस काल में वह अन्य भाइयों के लिए परस्त्री ही होगी। शायद इसीलिए अन्य सभी पाण्डवों ने एक-एक, दो-दो विवाह किए थे। युधिष्ठिर ने शिवि-नरेश गोवासन की पुत्री देविका को स्वयंवर में प्राप्त किया था। इसके पुत्र का नाम यौद्धेय था। भीम की पत्नी काशिराज की कन्या बलन्धरा थी। उसे प्राप्त करने के लिए, बल और पराक्रम का शुल्क दिया गया था। भीम ने उसे स्वयंवर में प्राप्त किया था इसके पुत्र का नाम सर्वग था। इसके अतिरिक्त भीम की एक अन्य पत्नी काली की भी चर्चा मिलती है, जिसे कहीं मद्रराज की पुत्री तो कहीं मद्रराज की बहन कहा गया है, और हिडिम्बा तो उसकी पहली पत्नी थी ही, जो कभी इन्द्रप्रस्थ नही आई। नकुल की पत्नी चेदिराज शिशुपाल की पुत्री तथा धृष्टकेतु की बहन करेणुमती थी, जिसके पुत्र का नाम निर्मित्र था। सहदेव की पत्नी मद्रराज द्युतिमान की पुत्री विजया थी, जिसके पुत्र का नाम सुहोत्र था। सहदेव की एक और पत्नी की अपुष्ट चर्चा मिलती है, जिसे जरासन्ध की पुत्री कहा गया है, किन्तु उसका नाम कहीं उपलब्ध नही है। इस प्रकार यदि अर्जुन ने भी एक विवाह सुभद्रा से कर लिया, तो द्रौपदी उससे रुष्ट क्यों हुई? स्पष्टत: एक अनुमान तो यही हो सकता है कि द्रौपदी को अपने पाँचों पतियों में से अर्जुन ही सर्वाधिक प्रिय था। उसी के छिन जाने का उसे अधिक भय भी हो सकता था। किन्तु उसका कारण तो उलूपी अथवा चित्रांगदा भी हो सकती थी। द्रौपदी ने उनमे से किसी के विरुद्ध इस प्रकार के असन्तोष का भाव क्यों व्यक्त नहीं किया? और फिर सुभद्रा के द्वारा ग्वालन का रूप बनाकर विनीत ढंग से हाथ जोड़कर 'आप की दासी हूँ' – मात्र कह देने से उसका यह सारा रोष धुल क्यों गया? यह तो स्पष्ट ही है कि अपनी अन्य किसी भी सपत्नी से उसे अपना महत्त्व छिन जाने का कोई भय दिखाई नही देता। किन्तु सुभद्रा सुन्दर भी है, अवस्था में उससे कही छोटी, अत: यौवन के आकर्षण से भरी-पूरी है; और शक्तिशाली यादवों की पुत्री है। कुन्ती के भाई वसुदेव की पुत्री है तथा पाण्डवों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्रीकृष्ण की प्रिय बहन है – उसी से द्रौपदी की स्पर्धा हो सकती है। वही द्रौपदी से उसका महत्त्व छीन सकती है। वही कुन्ती की सर्वाधिक प्रिय पुत्रवधू हो सकती है। इसीलिए द्रौपदी सशंकित है कि जाने सुभद्रा का उसके प्रति कैसा व्यवहार हो ! उसके इस भय को अर्जुन और सुभद्रा दोनों ही समझते हैं। इसीलिए तत्काल सुभद्रा ग्वालन के रूप में आकर स्वयं को द्रौपदी की दासी बता जाती है। द्रौपदी समझ जाती है कि सुभद्रा का दृष्टिकोण टकराव अथवा स्पर्धा का नहीं है। वह उससे उसका महत्त्व छीनने के लिए नहीं आई। वह उस की छोटी बहन बनकर भी इस परिवार में प्रसन्न रह सकती है। द्रौपदी तत्काल अपना व्यवहार परिवर्तित कर लेती है। सुभद्रा को गले से लगा वह उसे आशीर्वाद ही नहीं देती, उसके पति के शत्रुरहित होने की कामना करती है।

❑❑❑

मन की अवस्थाएँ

– स्वामी विवेकानन्द

हम लोग सरोवर के तल को नहीं देख सकते, क्योंकि उसकी सतह छोटी छोटी लहरों से व्याप्त रहती है। उस तल की झलक मिलना तभी सम्भव है, जब ये समस्त लहरें शान्त हो जाएँ। यदि पानी गँदला हो या उसमें सर्वदा हलचल होती रहे, तो वह कभी दिखाई न देगा। परन्तु जल यदि निर्मल तथा तरगविहीन हो, तब हम उस तल को अवश्य देख सकेंगे।

मन या चित्त भी मानो उस सरोवर के समान है और हमारा असल स्वरूप उसका तल है; वृत्तियाँ उस उठनेवाली लहरें हैं। फिर यह भी देखा जाता है कि मन तीन प्रकार की अवस्थाओं में रहता है। एक है तम की अर्थात् अन्धकारमय अवस्था, जैसा कि हम पशुओं और घोर मूर्खों में पाते हैं। ऐसे मन की प्रवृत्ति केवल औरों का अनिष्ट करने में ही रहती है; मन की इस अवस्था में और कोई विचार नहीं सूझता। दूसरा है - रज अर्थात् मन की क्रियाशील अवस्था, जिसमें केवल प्रभुत्व और भोग की इच्छा रहती है। उस समय यही भाव रहता है कि मैं शक्तिमान होऊँगा और दूसरों पर प्रभुत्व करूँगा। तीसरा है सत्व - अर्थात् मन की गम्भीर और शान्त अवस्था, जिसमें समस्त तरंगें शान्त हो जाती हैं और मानस-सरोवर का जल निर्मल हो जाता है। यह कोई जड़ावस्था नहीं है, प्रत्युत यह तो तीव्र क्रियाशील अवस्था है। शान्त होना शक्ति की महत्तम अभिव्यक्ति है। क्रियाशील होना तो सहज है। बस लगाम ढीली कर दो, तो घोड़े स्वय ही तुम्हें भगा ले जाएँगे। यह तो कोई भी कर सकता है; पर शक्तिमान पुरुष तो वह है, जो इन तेज घोड़ों को थाम सके। सत्व को कहीं मन्दबुद्धि यह आलस्य न समझ बैठना।शान्त मनुष्य वह है, जो मन की इन लहरों को अपने वश में लाने में समर्थ हुआ है। क्रियाशीलता निम्नतर शक्ति की अभिव्यक्ति है और शान्त भाव उच्चतम शक्ति की।